

प्रधान सम्पादक :
म. विनयसागर

प्राकृत भारती पुष्प - 45

॥

गीता-चयनिका

डॉ. कमलचन्द सोगाणी

प्राकृत भारती अकादमी, जयपुर

गीता-चयनिका

अनुवादक

डॉ. कमलचन्द सोगाणी
पूर्व प्रोफेसर, दर्शन विभाग
मोहनलाल सुखाड़िया विश्वविद्यालय
उदयपुर (राजस्थान)

प्रकाशक

प्राकृत भारती अकादमी, जयपुर

प्रकाशकः

देवेन्द्रराज मेहता
संस्थापक एवं मुख्य संरक्षक,
प्राकृत भारती अकादमी
१३-ए, मेन मालवीय नगर,
जयपुर-302017
दूरभाषः 0141-2524827

तृतीय संस्करण, 2005

मूल्यः 85/-

© प्रकाशकाधीन

मुद्रकः

दी डायमण्ड प्रिंटिंग प्रेस, जयपुर
फोन नं० - 0141-2562929, 2564771

Gita-Chayanika/Philosophy
Kamal Chand Sogani, Udaipur - 1988

आध्यात्मिक प्रेरणा के स्रोत

स्व. डॉ. रामचन्द्र दत्तात्रये रानाडे

एवं

स्व. मास्टर मोतीलालजी संघी

(संस्थापक, श्री सन्मति पुस्तकालय, जयपुर)

को

श्रद्धापूर्वक समर्पित

अनुक्रमणिका

1. प्रकाशकीय	I
2. प्राक्कथन	III
3. सम्मति	VII
4. सम्मति	XI
5. प्रस्तावना	i
5. गीता-चयनिका के श्लोक एवं हिन्दी अनुवाद	2-61
6. संकेत-सूची	62-63
7. व्याकरणिक विश्लेषण	64-128
8. गीता-चयनिका एवं गीता श्लोक-क्रम	129-132
9. सहायक पुस्तकें एवं कोश	133-134

प्रकाशकीय

प्राकृत भारती अकादमी के 45वें पुष्प के रूप में गीता चयनिका का तृतीय संस्करण पाठकों के कर-कमलों में समर्पित करते हुए हर्ष का अनुभव हो रहा है। विश्व-संस्कृति के मूल्यात्मक निर्माण में भगवद्गीता, सुमणसुत्तं, धम्मपद, बाईबिल, कुरान आदि ग्रंथों का विशेष महत्त्व है। ये सभी ग्रंथ मनुष्य को उचित दिशा प्रदान करने में सक्षम हैं। इनके चिन्तन-मनन से मनुष्य मूल्यात्मक जीवन जीने के लिए प्रेरणा प्राप्त करता है। पाशविक वृत्तियाँ उसे त्यागने योग्य मालूम होने लगती हैं। वह अपने आन्तरिक जीवन की विषमताओं को समझकर समता-प्राप्ति की ओर अग्रसर होने के लिए उत्साहित होता है। आज के औद्योगिक जीवन की व्यस्तताओं में व्यक्ति इन ग्रंथों के हार्द को समझ सके तो अत्यन्त उपयोगी है। इस उद्देश्य को ध्यान में रखकर डॉ. सोगाणी ने भगवद्गीता की चयनिका तैयार की है। इस गीता-चयनिका में 170 श्लोक हिन्दी अनुवाद-सहित प्रस्तुत हैं। इनका व्याकरणिक विश्लेषण भी दिया गया है, जो उनकी विशिष्ट शैली का परिचायक है।

डॉ. सोगाणी द्वारा संपादित समणसुत्तं चयनिका (पंचम संस्करण) आचारांग-चयनिका (चतुर्थ संस्करण), दशवैकालिक-चयनिका (द्वितीय संस्करण), अष्टपाहुड-चयनिका (पंचम संस्करण), वाक्पतिराज की लोकानुभूति, वज्जालग में जीवन-मूल्य (द्वितीय संस्करण), उत्तराध्ययन-चयनिका (चतुर्थ संस्करण), परमात्मप्रकाश व योगसार चयनिका, समयसार-चयनिका आदि प्रकाशित की जा चुकी हैं।

इस पुस्तक के प्रथम संस्करण के प्रकाशन में राजस्थान सरकार के कला एवं संस्कृति, शिक्षा विभाग, जयपुर ने आर्थिक अनुदान प्रदान कर महत्त्वपूर्ण योगदान दिया है। अतः हम शिक्षा विभाग के अधिकारीगण के आभारी हैं।

इस पुस्तक की सुन्दर छपाई के लिए डायमण्ड प्रिन्टर्स, जयपुर को धन्यवाद प्रदान करते हैं।

देवेन्द्रराज मेहता
संस्थापक एवं मुख्य संरक्षक
प्राकृत भारती अकादमी
जयपुर

(II)

प्राकथन

प्रोफेसर कमलचन्द सोगाणी द्वारा सम्पादित गीता-चयनिका को पढ़कर अपार हर्ष का अनुभव हुआ। इसमें विद्वान् लेखक ने गीता से लगभग पौने दो सौ श्लोक चुनकर उनका हिन्दी में अनुवाद किया है तथा एक विद्वत्तापूर्ण भूमिका के द्वारा गीता-दर्शन के विभिन्न आयामों का एक सर्वथा मौलिक ढंग से समन्वय करते हुए उसकी अतीव सारगर्भित विवेचना प्रस्तुत की है।

डॉ. सोगाणी कुछ वर्षों से एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कार्य में संलग्न हैं। उन्होंने हमारे प्राचीन साहित्य के आर्ष ग्रंथों की चयनिकाएं जन सामान्य को सुलभ कराने का बीड़ा उठाया है। वे इस कार्य को एक सच्चे कर्म के समान कर रहे हैं। अपनी इस योजना को क्रियान्वित करने की प्रक्रिया में वे अब तक अनेक चयनिकाएं प्रकाशित कर चुके हैं। अब तक की सभी चयनिकाएँ जैन ग्रंथों तथा प्राकृत साहित्य की कृतियों से सम्बन्धित थीं। किन्तु इस बार वे प्राकृत के दायरे से बाहर निकल कर संस्कृति के क्षेत्र में आये हैं और आश्चर्य की बात कि इस क्षेत्र में भी उन्होंने अपना पूर्ण आधिपत्य प्रकट किया है।

पूर्व चयनिकाओं के समान प्रस्तुत गीता-चयनिका भी एक महत्त्वपूर्ण कृति है। यह गीता के श्लोकों का चयनमात्र नहीं है। इसमें अनेक ऐसी विशेषताएँ हैं जो गीता के अन्यान्य संस्करणों से इसे विशिष्टता प्रदान करती हैं। श्लोकों के चयन में विद्वान् लेखक की

अपनी दृष्टि परिलक्षित होती है। गीता के लगभग सात सौ श्लोकों में से केवल उन्हीं को चुना गया है जो उसके मूलवर्ती दार्शनिक चिन्तन का प्रतिनिधित्व करते हैं। श्लोकों का यह चयन अपने आप में डॉ. सोगाणी की एक उपलब्धि है। गीता के सारभूत पद्यों का ऐसा चयन शायद ही किसी ने किया हो।

चयन के पश्चात् दूसरा कार्य अनुवाद का था। इस क्षेत्र में भी डॉ. सोगाणी ने अपनी मौलिकता की छाप अंकित की है। गीता पर सैकड़ों टीकाएँ, व्याख्याएँ और विवेचनाएँ विभिन्न भाषाओं में प्रकाशित हो चुकी हैं। अनुवाद भी अनगिनत हुए हैं। पर गीता-चयनिका के लेखक ने उन सब अनुवादों और व्याख्याओं को परे रख कर अपनी स्वतंत्र मति और दृष्टि का उपयोग किया है। यही कारण है कि उनका अनुवाद अन्य अनुवादों से अलग है। उन्होंने गीता के शब्दों का मर्म पकड़ने की चेष्टा की है। शब्दों के प्रचलित व प्रसिद्ध अर्थों को प्रामाणिक न मानकर उन्होंने प्रत्येक शब्द की धातु या प्रकृति के मूल अर्थ का सन्धान करते हुए स्वतंत्र रीति से अर्थनिर्णय किया है। एक विशेष बात यह है कि अनुवाद में श्लोकों की मूल अभिव्यक्ति की यथासंभव रक्षा की गयी है; लेखक ने अपनी ओर से मूल वाक्य शैली में परिवर्तन का परिहार किया है। जहाँ भी मूल की शब्दावली से बात स्पष्ट नहीं होती वहाँ कोष्ठकों में अर्थ के स्पष्टीकरण के लिए अपनी ओर से शब्द बढ़ाये गये हैं। इस प्रकार लेखक ने अनुवादक के धर्म का कड़ाई से पालन

(IV)

करते हुए अनुवाद को कोष्ठकों से बाहर तथा अपनी व्याख्यात्मक टिप्पणियों को सर्वत्र कोष्ठकों के भीतर ही दिया है।

गीता-चयनिका की तीसरी विशेषता चयनित श्लोकों की भाषा का व्याकरणिक विश्लेषण है। यह एक नया प्रयोग कहा जा सकता है। डॉ. सोगाणी अपनी पूर्व चयनिकाओं में प्राकृत भाषा का ऐसा विश्लेषण प्रस्तुत कर चुके हैं पर संस्कृत के सन्दर्भ में इस विश्लेषण-पद्धति का प्रयोग लेखक की एक बिल्कुल नयी देन है। इस विश्लेषण में एक स्वउद्भावित सांकेतिक पद्धति की सहायता से प्रत्येक श्लोक के शब्दों एवं रचना-पद्धति का सूक्ष्म व्याकरणिक विश्लेषण किया गया है। यह विश्लेषण चयनिका के भाषा-पक्ष की अवगति में विशेष रूप से सहायक है। भाषा-विश्लेषण की यह पद्धति इतनी मौलिक तथा उपयोगी है कि संस्कृत-क्षेत्र में कार्य करने वाले विद्वान् भी इसे अपना कर लाभान्वित हो सकते हैं।

विद्वान् लेखक ने चयनिका की प्रस्तावना में गीता के दार्शनिक चिन्तन का मौलिकतापूर्ण विवेचन किया है। गीता-दर्शन में आपाततः अनेक विसंगतियाँ एवं विरोधाभास दृष्टिगत होते हैं। डॉ. सोगाणी ने अपनी तत्त्वग्राहिणी दृष्टि से गीता-दर्शन के इन विरोधाभासों का समाधान करते हुए उसके मौलिक सन्देश एवं तात्पर्य को पर्याप्त स्पष्टता के साथ प्रस्तुत किया है। उनके अनुसार गीता का आदर्श कर्मयोगी है जो गुणातीत एवं भक्तियोगी से अभिन्न है। गीता में ज्ञानयोगी या कर्मसंन्यासी

की भी चर्चा आयी है किन्तु अनुभव की भूमिका पर कर्मयोगी के समकक्ष होते हुए भी कर्मों का परित्याग कर देने से वह लोक के लिए उतना उपयोगी नहीं है। लेखक के अनुसार गीता की विचारधारा हमारे आज के समाज की मानसिक अशान्ति, असन्तोष, तनाव और नैतिक विघटन को रोकने में पूर्णतया समर्थ है।

डॉ. सोगाणी ने गीता-चयनिका के माध्यम से गीता को सामान्यजन तक पहुँचाने का प्रशंसनीय प्रयास किया है। साथ ही विद्वानों और विद्यार्थियों के लिए भी यह कृति अतीव उपादेय है। मुझे आशा ही नहीं अपितु पूर्ण विश्वास है कि प्राचीन भारत के आध्यात्मिक वाङ्मय के दीप्तिमान रत्नों को विभिन्न चयनिकाओं में सजाकर वे आज के दिग्भ्रान्त समाज में नैतिक व आध्यात्मिक मूल्यों की जिस उदात्त चेतना को जगाना चाहते हैं वह इनके माध्यम से अवश्य जाग्रत व समृद्ध होगी। मेरी हार्दिक कामना है कि एक मनीषी कर्मयोगी के रूप में वे लोक-कल्याण की जिस साधना में संलग्न हैं वह उत्तरोत्तर सशक्त और फलवती हो।

डॉ० मूलचन्द पाठक
प्रोफेसर, संस्कृत विभाग
सुखाड़िया विश्वविद्यालय
उदयपुर (राजस्थान)

(VI)

सम्मति

क्लासिक ग्रन्थ की प्रमुख विशेषता उसकी शब्द-शक्ति है जो अपने समय और सन्दर्भ को पार कर हर युग और संदर्भ को संबोधित करती है। हर व्यक्ति को लगता है कि उसके प्रश्न का समाधान उस ग्रन्थ में दिया हुआ है। गीता के बारे में यह विशेष रूप से चरितार्थ है। परमाणु के विस्फोट के समय वैज्ञानिक ने गीता में इसके स्वरूप का साक्षात्कार किया-एक विराट् अनन्त का। जब डॉग हैमरशोल्ड अत्यन्त दुस्तर कार्य के लिए शुद्ध कर्तव्यबुद्धि के कारण संयुक्त राष्ट्र संघ के महामन्त्री के रूप में वायुयान से जा रहे थे, तो उन्हें गीता का वह अमृतवाक्य याद आया: कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन (9)।

भारत ने जब स्वातन्त्र्य संघर्ष लड़ा तो तिलक, गाँधी ने गीता का सहारा लिया। उसकी नयी व्याख्या प्रस्तुत की। सुभाषचन्द्र बोस और जवाहरलाल नेहरू जैसे सेनानियों को उसने अजस्र प्रेरणा दी। यही नहीं स्वतन्त्रता पा लेने के बाद जब राष्ट्र के आर्थिक उत्थान का प्रश्न उठा तो उसका समाधान विनोबा ने गीता की व्याख्या करके दिया। मुझे जब कोई विद्यार्थी पूछता है कि अध्ययन-अनुसन्धान में मन निरन्तर कैसे लगाऊँ, तो उत्तर देता हूँ - अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते (90)। यानि कि चाहे प्रश्न मेरा हो, समाज का हो, विश्व का हो गीता में चिन्तन का कोई ऐसा सूत्र मिल जाता है जो मार्ग-दर्शक बन जाता है। पर यह कतई आवश्यक नहीं कि जो श्लोक मेरा मार्ग-दर्शक

है, मेरे प्रश्न का समाधान है, वही आपका भी हो। इसलिए हर व्यक्ति को अपनी गीता चुननी होती है। जैसे कि दर्शन के सम्प्रदाय अनेक हैं, पर हर व्यक्ति को अपना जीवन-दर्शन संघटित करना पड़ता है, उसी प्रकार जो गीता का अपना श्लोक और अपना अर्थ खोजेगा, उसे अवश्य मिलेगा। जीवन में हर्ष-विषाद सभी को होते हैं और हर व्यक्ति को अर्जुन की भाँति समसयाओं के चौराहे पर आकुल मन से अपने-अपने प्रश्न पूछने पड़ते हैं। दूसरों का सहारा लीजिए, बाहर मित्र खोजिये और शत्रु खोजिये या बनाइये - पर यह सब आपके जीवन को चौराहे से हटा कर रास्ता प्रशस्त कर देंगे, यह कहना कठिन है। और मुझे गीता का श्लोक बहुत अच्छा समाधान लगता है :

उद्धरेदात्मनात्मानं नातमानमवसादयेत् ।

आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः ॥ (६७)

आप अपने सबसे बड़े मित्र और सबसे बड़े दुश्मन हैं - यह जानने के बाद शेष सब अच्छे लगते हैं और मन आत्मनिरीक्षण में लग जाता है, फिर विषाद के लिए गुंजाइश ही नहीं। उद्धरेदात्मनात्मानम् आज के कई रोगों की अच्छी औषधि लगती है। पर हर व्यक्ति को इसे अपना अर्थ देना होगा, स्वयं औषधी के रूप में अपनाना होगा, तभी इसकी सार्थकता पहचानी जायेगी।

डॉ० कमलचन्द्र सोगाणी, प्रोफेसर, दर्शन-विभाग, सुखाड़िया विश्वविद्यालय, उदयपुर, विगत कई वर्षों से क्लासिक कृतियों के नवनीत

(VIII)

को सामान्य प्रबुद्ध व्यक्तियों के पठनार्थ निरन्तर प्रस्तुत कर रहे हैं। गीता-चयनिका गीता के अत्यन्त उत्कृष्ट एवं सारभूत श्लोकों का सानुवाद एवं व्याकरणिक विश्लेषण के साथ उपस्थापन है। प्रत्येक चयन चयनकार की दृष्टि का परिणाम होता है। महाभारत के आलोचनात्मक संस्करण को आधार बनाकर गीता का जो सर्वधर्म-दर्शन ग्राह्य स्वरूप है, उसे डॉ० सोगाणी ने अपने चयन का आधार बनाया है। गीता की सांप्रदायिक, शैव-वैष्णव मतावलम्बी व्याख्याएँ अनेक हैं, किन्तु साम्प्रदायिक परम्परा से अतीत रहकर उसका जो सर्वजन ग्राह्य स्वरूप है, वह आध्यात्मिक चेतना की विश्ववन्द्य आधार-शिला है। इस आध्यात्मिक चेतना तथा उसका सामाजिक-वैयक्तिक व्यवहार में उपयोग विरोधी कोटियाँ नहीं हैं। अतः व्यावहारिक तथा आत्मचिन्तन-प्रवण साधक दोनों ही इस चयनिका से लाभ उठा सकते हैं। अनुवाद, सरल, सुबोध तथा विश्वसनीय है, शास्त्रीय उलझाव अथवा साम्प्रदायिक अर्थबोध से यह आक्रान्त नहीं है। व्याकरणिक विश्लेषण उपयोगी है।

मेरी यह इच्छा है कि डॉ० सोगाणी विश्रान्ति के क्षणों में स्वयं द्वारा तैयार की हुई चयनिकाओं के लिए भारत की क्लासिकी में रुचि रखनेवालों की कक्षाएँ लगायें। मुझे विश्वास है कि इस प्रकार जो व्यक्ति किसी कारण भारत की संस्कृति-संपदा से बेखबर रहे हैं और आज जिनमें उसे जाने की ललक पैदा हुई है वे उनके चयनिका ग्रन्थों से बहुत लाभान्वित होंगे और यह देश भी अपनी नैतिक, आध्यात्मिक

(IX)

संपदा को पहचानना प्रारम्भ कर सकेगा। इसी में व्यक्ति, समाज और राष्ट्र का अभ्युदय और निःश्रेयस सन्निहित है।

पाठक से भी मेरा एक निवेदन है। गीता के प्रत्येक श्लोक में तात्पर्य की अनन्तता निहित है। यह निस्सीमता प्रत्येक व्यक्ति अपना अर्थ खोजकर पा सकता है। गीता को नया अर्थ शास्त्रज्ञ पण्डित नहीं, अपितु सामान्य जन देता है। ऐसा अर्थ ही समाज को नया मार्ग तथा नया दिशा बोध प्रदान करता है। डॉ० सोगाणी के हम सभी संस्कृतज्ञ ऋणी हैं, जिन्होंने गीता की अमृतोत्पन्न वाणी को बुधजनहिताय, बहुजनसुखाय सुलभ बनाया है। उनका शेष जीवन समाज के लिए समर्पित इसी प्रकार की सारस्वत साधना में लगा रहे - यही हमारी प्रार्थना है।

डॉ० रामचन्द्र द्विवेदी
प्रोफेसर, संस्कृत-विभाग
राजस्थान विश्वविद्यालय,
जयपुर

सम्मति

डॉ० कमलचन्द सोगणी की चार चयनिकाएँ - आचारांग-चयनिका, दशवैकालिक-चयनिका, समणसुत्त-चयनिका तथा अष्टपाहुड-चयनिका प्रकाशित हो चुकी हैं। ये चारों चयनिकायें जैन परम्परा से जुड़ी हैं। गीता-चयनिका का संबंध वैदिक परम्परा से है। इस दृष्टि से इस चयनिका का अपना महत्त्व है, क्योंकि यह उस उदार तथा असाम्प्रदायिक दृष्टि का प्रतिनिधित्व करती है जो सत्य को किसी सम्प्रदाय विशेष की थाती न मानकर उसको सभी जगह बिखरा हुआ देखती है। आज सम्प्रदाय-निरपेक्षता का युग है। डॉ० सोगणी ने निष्ठापूर्वक गीता का आलोडन कर उसमें निहित सत्य को देखने का सफल प्रयास किया है।

डॉ० सोगणी पाठक को केवल अनुवाद तथा अपनी व्याख्या के ही आधार पर अवलम्बित न रखकर व्याकरणिक विश्लेषण के माध्यम से मूल ग्रन्थ तक ले जाना चाहते हैं। कोई भी पाठक चाहे तो थोड़े से परिश्रम से स्वयं इस बात की जाँच कर सकता है कि उनका अनुवाद तथा विश्लेषण मूल ग्रन्थ के आशयानुकूल है या नहीं। धर्म-ग्रन्थों के विश्लेषण में यह मूलानुगामिता अत्यन्त आवश्यक है, क्योंकि इन धर्मग्रन्थों की रचना हजारों वर्ष पूर्व हुई और यह सदा संभव है कि लेखक आज की मान्यताओं को इन ग्रन्थों पर इस प्रकार थोप दे कि मूल ग्रन्थ के आशय के विपरीत बात उनके नाम पर प्रचलित हो जाए।

डॉ० कमलचन्द सोगाणी ने न केवल स्वयं मूल के प्रति निष्ठा बनाये रखने का पूरा प्रयत्न किया है, बल्कि यह भी प्रयत्न किया है कि पाठक स्वयं इस मूलानुगामिता की जांच कर सके। मेरी जानकारी में धर्मग्रन्थों की व्याख्या में व्याकरण शास्त्र का इतना व्यापक उपयोग पहली बार डॉ० सोगाणी ने ही किया है।

गीता-चयनिका की प्रस्तावना को देखें तो ज्ञात होगा कि डॉ० सोगाणी ने गीता को गीता के माध्यम से ही देखने का स्तुत्य प्रयास किया है। किसी भी प्रबुद्ध पाठक को संहज ही पता चलेगा कि उन्होंने तटस्थ रहने का भरसक प्रयत्न किया है और वे ज्ञान, कर्म और भक्ति के विवाद में नहीं पड़े हैं। उनकी मौलिकता यही है कि उन्होंने कहीं भी मल्लिनाथ के इस आदर्श को नहीं छोड़ा है कि “नामूलं लिख्यते किञ्चिन्नापेक्षितमुच्यते”

यही आदर्श इस ग्रन्थ की प्रामाणिकता बन गया है।

डॉ० दयानन्द भार्गव

आचार्य एवं अध्यक्ष, संस्कृत विभाग तथा
अधिष्ठाता, कला, शिक्षा और सामाजिक
विज्ञान संकाय

(XII)

प्रस्तावना

यह सर्व विदित है कि मनुष्य अपनी प्रारम्भिक अवस्था से ही रंगों को देखता है, ध्वनियों को सुनता है, स्पर्शों का अनुभव करता है, स्वादों को चखता है तथा गन्धों को ग्रहण करता है। इस तरह उसकी सभी इन्द्रियाँ सक्रिय होती हैं। वह जानता है कि उसके चारों ओर पहाड़ हैं, तालाब हैं, वृक्ष हैं, मकान हैं, मिट्टी के टीले हैं, पत्थर हैं इत्यादि। आकाश में वह सूर्य, चन्द्रमा और तारों को देखता है। ये सभी वस्तुएँ उसके तथ्यात्मक जगत का निर्माण करती हैं। इस प्रकार वह विविध वस्तुओं के बीच अपने को पाता है। उन्हीं वस्तुओं से वह भोजन, पानी, हवा आदि प्राप्त कर अपना जीवन चलाता है। उन वस्तुओं का उपयोग अपने लिए करने के कारण वह वस्तु-जगत का एक प्रकार से सम्राट बन जाता है। अपनी विविध इच्छाओं की तृप्ति भी बहुत सीमा तक वह वस्तु-जगत से ही कर लेता है। यह मनुष्य की चेतना का एक आयाम है।

धीरे-धीरे मनुष्य की चेतना एक नया मोड़ लेती है। मनुष्य समझने लगता है कि इस जगत में उसके जैसे दूसरे मनुष्य भी हैं जो उसकी तरह हँसते हैं, रोते हैं, सुखी-दुःखी होते हैं। वे उसकी तरह विचारों, भावनाओं और क्रियाओं की अभिव्यक्ति करते हैं।

चयनिका]

[i

चूंकि मनुष्य अपने चारों ओर की वस्तुओं का उपयोग अपने लिए करने का अभ्यस्त होता है, अतः वह अपनी इस प्रवृत्ति के वशी-भूत होकर मनुष्यों का उपयोग भी अपनी आकांक्षाओं और आशाओं की पूर्ति के लिए ही करता है। वह चाहने लगता है कि सभी उसीके लिए जीएँ। उसकी निगाह में दूसरे मनुष्य वस्तुओं से अधिक कुछ नहीं होते हैं। किन्तु उसकी यह प्रवृत्ति बहुत समय तक चल नहीं पाती है। इसका कारण स्पष्ट है। दूसरे मनुष्य भी इसी प्रकार की प्रवृत्ति में रत होते हैं। इसके फलस्वरूप उनमें शक्ति-वृद्धि की महत्वाकांक्षा का उदय होता है। जो मनुष्य शक्ति-वृद्धि में सफल होता है, वह दूसरे मनुष्यों का वस्तुओं की तरह उपयोग करने में समर्थ हो जाता है। पर मनुष्य को यह स्थिति घोर तनाव की स्थिति होती है। अधिकांश मनुष्य जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में इस तनाव की स्थिति में से गुजर चुके होते हैं। इसमें कोई सन्देह नहीं कि यह तनाव लम्बे समय तक मनुष्य के लिए असहनीय होता है। इस असहनीय तनाव के साथ-साथ मनुष्य कभी न कभी दूसरे मनुष्यों का वस्तुओं की तरह उपयोग करने में असफल हो जाता है। ये क्षण उसके पुनर्विचार के क्षण होते हैं। वह गहराई से मनुष्य-प्रकृति के विषय में सोचना प्रारम्भ करता है, जिसके फलस्वरूप उसमें सहसा प्रत्येक मनुष्य के लिए सम्मान-भाव का उदय होता है। वह अब मनुष्य-मनुष्य की समा-नता और उसकी स्वतन्त्रता का पोषक बनने लगता है। वह अब उनका अपने लिए उपयोग करने के बजाय अपना उपयोग उनके लिए करना चाहता है। वह उनका शोषण करने के स्थान पर उनके विकास के लिए चिंतन प्रारम्भ करता है। वह स्व-उदय के बजाय सर्वोदय का इच्छुक हो जाता है। वह सेवा लेने के स्थान पर सेवा करने को महत्त्व देने लगता है। उसकी यह प्रवृत्ति उसे

तनाव-मुक्त कर देती है और वह एक प्रकार से विशिष्ट व्यक्ति बन जाता है। उसमें एक असाधारण अनुभूति का जन्म होता है। इस अनुभूति को ही हम मूल्यों की अनुभूति कहते हैं। वह अब वस्तु-जगत में जीते हुए भी मूल्य-जगत में जीने लगता है। उसका मूल्य-जगत में जीना धीरे-धीरे गहराई की ओर बढ़ता जाता है। वह अब मानव-मूल्यों को खोज में संलग्न हो जाता है। वह मूल्यों के लिए ही जीता है और समाज में उनकी अनुभूति बढ़े इसके लिए अपना जीवन समर्पित कर देता है। यह मनुष्य की चेतना का एक दूसरा आयाम है।

गीता¹ में चेतना के दूसरे आयाम की सबल अभिव्यक्ति हुई है। इसका मुख्य उद्देश्य एक ऐसे समाज की रचना करना है जिसमें नैतिक-आध्यात्मिक मूल्यों की प्रतिष्ठा हो। नैतिक मूल्य जहाँ सामाजिक जीवन के विभिन्न क्षेत्रों की चर्या को सुव्यवस्था प्रदान करते हैं, वहाँ आध्यात्मिक मूल्य नैतिकता के लिए हठ आधार का निर्माण करते हैं। बिना अध्यात्म के कोरी नैतिकता लड़खड़ा जाती है। अध्यात्म के आधार से नैतिकता वास्तविक बनती है। अध्यात्म और नैतिकता के इस मिले-जुले रूप को ही गीता ने देवी संपदा कहा है। जब व्यक्ति देवी संपदा को प्राप्त करने की ओर चलता है, तो उसमें नैतिक और आध्यात्मिक दोनों ही गुण विकसित होने

-
1. गीता में 700 श्लोक हैं जो अष्टादश अध्यायों में विभक्त हैं। हमने इनमें से 170 श्लोकों का चयन 'गीता-चयनिका' शीर्षक के अन्तर्गत किया है।

लगते हैं। एक ओर वह आत्म-संयम, ईमानदारी, अहिंसा, सत्य, विनय, दानशीलता, अक्रोध, सरलता, धैर्य आदि नैतिक गुणों को अपने में विकसित करता है, तो दूसरी ओर वह अभय, प्राणी मात्र के प्रति करुणा, आध्यात्मिक ज्ञान की प्राप्ति में दृढ़ता, त्याग-शीलता, अलोलुपता, आत्म-बल, क्षमा, उदारता, स्वाध्याय, तपस्या, शान्ति आदि आध्यात्मिक गुणों को अपने में विकसित करने की ओर अग्रसर होता है (160, 16, 162)। जिनके जीवन में देवी संपदा नहीं बढ़ती है, वे व्यक्ति आसुरी संपदा से उत्पन्न विकारी प्रवृत्तियों को ग्रहण करने लगते हैं। वे नाना प्रकार की इच्छाओं के वशीभूत होकर जालसाजी, उदण्डता, अहंकार, क्रोध, निर्दयता, कामुकता, दुराचरण आदि के वशीभूत रहते हैं (163, 166)। ऐसे व्यक्ति मृत्यु तक असंख्य चिन्ताओं से घिरे रहते हैं, विषय-भोगों में प्रवृत्ति करते हैं और अन्याय से धन कमाने में भी नहीं हिचकते हैं (167, 168)। इस तरह से जिस व्यक्ति में देवी संपदा बढ़ती जाती है, वह व्यक्ति परम शान्ति प्राप्त कर लेता है। इसके विपरीत आसुरी संपदावाला व्यक्ति अशान्ति, व्याकुलता, चिन्ता और मानसिक तनाव का शिकार रहता है (164, 170)। अतः कहा जा सकता है कि देवी संपदा अजित की जानी चाहिए और आसुरी संपदा का त्याग किया जाना चाहिए। यहाँ यह ध्यान देने योग्य है कि समाज में किए गए वे कर्म जो देवी संपदा से प्रेरित हैं वे ही व्यक्ति व समाज को उत्थान की ओर ले जा सकते हैं और वे कर्म जो आसुरी संपदा से प्रेरित हैं वे व्यक्ति व समाज को पतन के गर्त में धकेल देते हैं।

समाज में नैतिक और आध्यात्मिक मूल्यों की प्रतिष्ठा के

साथ साथ गीता हमारा ध्यान एक ऐसे आदर्श की ओर आकर्षित करती है जिसके अनुसार व्यक्ति को आत्मानुभव की सर्वोच्च ऊँचाइयों पर पहुँचने के पश्चात् भी लोक-कल्याण में लगा रहना चाहिए। वह आत्मानुभवी व्यक्ति लोक-कल्याण के कर्मों को न छोड़े। गीता के अनुसार आत्मानुभव और लोक-कल्याण एक दूसरे के विरोधी नहीं हैं। सच तो यह है कि पूर्णता प्राप्त करने के पश्चात् किए गए कर्म ही व्यक्ति व समाज को सही दिशा प्रदान कर सकते हैं। गीता ने ऐसे व्यक्ति को कर्मयोगी कहा है। कर्म-योगी द्वारा किए गए (लोक-कल्याण के) कर्म उसको बन्धन में नहीं डालते हैं (51)। उसमें अशान्ति पैदा नहीं करते हैं और वह कर्मों को करने में मानसिक तनाव से मुक्त रहता है। गीता की निगाह में एक ऐसा योगी भी है जो आत्मानुभव की ऊँचाइयों पर तो पहुँच जाता है, किन्तु कर्म को त्याग देता है। गीता ने इसी को ज्ञानयोगी या कर्मसंन्यासी कहा है। कर्मयोगी और ज्ञानयोगी या कर्मसंन्यासी—दोनों ही आत्मानुभव की दृष्टि से पूर्ण समान हैं। वे अन्तरंगरूप से एक ही हैं (53)। जो उच्चतम अवस्था ज्ञानयोगी प्राप्त करता है, वही उच्चतम अवस्था कर्मयोगी द्वारा प्राप्त की जाती है (52, 54)। अन्तर केवल यह है कि कर्मयोगी लोक-कल्याण के कर्मों में संलग्न रहता है, किन्तु ज्ञानयोगी ऐसे कर्मों को भी छोड़ देता है और कर्मसंन्यासी बन जाता है। इस तरह से बाह्य अवस्था में अन्तर पैदा होता है, अन्तरंग अवस्था में दोनों में कोई भेद नहीं है (53)।

यहाँ यह ध्यान देने योग्य है कि गीता ने उच्चतम अवस्था को ही आत्मानुभव की अवस्था, ब्रह्मानुभव की अवस्था, त्रिगुणा-

तीत अवस्था, परमात्मा की प्राप्ति की अवस्था तथा परम शान्ति की अवस्था कहा है। लोक-कल्याण को ध्यान में रखकर ही गीता ने कहा है कि कर्मसंन्यास से कर्मयोग अधिक अच्छा है (26, 52)। लोकापेक्षा ज्ञानयोगी से कर्मयोगी श्रेष्ठ है। गीता ने कर्मयोगी को त्रिगुणातीत भी कहा है तथा परमात्मा की भक्ति में लीन भी कहा है। एक अर्थ में कर्मयोगी त्रिगुणातीत भी है तथा भक्तयोगी भी है। तीनों ही उच्चतम अवस्था को प्राप्त करने के पश्चात् लोक-कल्याण में संलग्न रहते हैं। इस तरह से गीता का कर्मयोगी, त्रिगुणातीत और भक्तयोगी एक वर्ग के हैं और ज्ञानयोगी और कर्मसंन्यासी दूसरे वर्ग के। प्रथम वर्ग के योगी लोक-कल्याण के कर्मों में संलग्न रहते हैं और समाज को दिशा-निर्देश देते हैं, किन्तु दूसरे वर्ग के योगी समाज के लिए किसी प्रकार का कोई कर्म नहीं करते हैं और इस तरह सभी प्रकार के कर्मों को त्याग देते हैं। ज्ञानयोगी ब्रह्मापेक्षा कर्मसंन्यासी होता है और कर्मसंन्यासी अन्त-रंगापेक्षा ज्ञानयोगी है। ज्ञानयोगी = (कर्मयोगी—कर्म), कर्मयोगी = (ज्ञानयोगी + कर्म) तथा कर्मसंन्यासी = (कर्मयोगी—कर्म) कहे जा सकते हैं। यहाँ यह स्मरण रखना चाहिए कि (आत्मानुभव आदि की) उच्चतम अवस्था प्राप्त करने के पश्चात् कर्मयोगी, त्रिगुणातीत, भक्तयोगी, ज्ञानयोगी तथा कर्मसंन्यासी की बुद्धि स्थिर हो जाती है। अतः इनको सामानरूप से स्थितप्रज्ञ भी कहा जा सकता है। लोक-कल्याण के कर्मों को करता हुआ स्थितप्रज्ञ कर्मयोगी कहलाता है और उन कर्मों से जो विमुक्त रहता है वह स्थितप्रज्ञ ज्ञानयोगी कहा जा सकता है। जैसे कर्मयोगी, त्रिगुणातीत तथा भक्तयोगी गीता के आदर्श महा-योगी हैं, उसी प्रकार स्थितप्रज्ञ की अवस्था भी आदर्श के रूप में

मानी जा सकती है, क्योंकि लोक-कल्याण के लिए कर्म स्थितप्रज्ञ अवस्था प्राप्त करने के पश्चात् ही सफलता पूर्वक किए जा सकते हैं ।

यहाँ प्रश्न यह है : कर्मयोगी के कर्म करने की शैली क्या है? इसके उत्तर में कहा जा सकता है कि कर्मयोगी अनासक्त भाव से कर्म करता है, इसलिए आसक्ति से उत्पन्न होने वाले दोष से वह मलिन नहीं किया जाता है, जैसे कमल का पत्ता जल के द्वारा मलिन नहीं किया जाता है (55) । सामान्य मनुष्य की आसक्ति स्वार्थपूर्ण कर्म-फल के प्रति होती है । उस फल से प्रेरित होकर वह कर्म करता है । किन्तु कर्मयोगी का (जो आत्मा में ही तृप्त है और आत्मा में ही संतुष्ट है) किसी भी प्राणी से कोई स्वार्थपूर्ण प्रयोजन नहीं होता है (27, 28) । वह कर्मों के स्वार्थपूर्ण फल द्वारा प्रेरित नहीं होता है (9) । अतः उसके सारे कर्म परार्थ के लिए ही होते हैं । वह परार्थ के लिए किए गए कर्मों के फलों को सोचता-विचारता अवश्य है, पर आसक्ति और स्वार्थ को सामने रखकर नहीं । प्रकृति की विराटता को देखकर वह उन कर्मों के फलों में आसक्ति नहीं करता है (9) । उसका मानना है कि कर्म में ही उसका अधिकार है कर्मों के फलों में नहीं (9) । अतः फलों में आसक्ति व्यर्थ है । वह तो अनासक्त होकर लोक-कल्याण के लिए ही कर्म करता है । इस तरह से उसके सारे कर्म अनासक्त भाव से किए गए होने के कारण 'अकर्म' ही हैं । इस कारण से वह बंधन में नहीं फँसता है । इस प्रकार वह 'कर्म' में 'अकर्म' को देखता है (42) । उसके लिए तो 'अकर्म' ही वास्तविक 'कर्म' है । अतः वह 'अकर्म' में भी 'कर्म' को देखता है (42) । गीता का

कहना है कि कर्म-फल में आसक्ति को छोड़कर जो सदैव आत्मा में तृप्त है और जो तृप्ति के लिए किसी पर निर्भर नहीं है, वह कर्म में लगा हुआ भी कुछ नहीं करता है (44)। जिसके सभी कर्म आसक्ति से उत्पन्न फल की आशा से रहित हैं, जिसने कर्मों की आसक्ति को ज्ञानरूपी अग्नि जलाद्वारा दिया है, उसको विद्वान (कर्म) योगी कहते हैं (43)। जैसे प्रज्वलित अग्नि लकड़ियों को राखरूप कर देती है वैसे ही ज्ञानरूपी अग्नि कर्मासक्तियों को नष्ट कर देती है (47)। साधारण जन अपनी कामनाओं में लिप्त रहने के कारण कर्म-फल में आसक्त होता है। अतः वह मानसिक तनाव से ग्रस्त रहता है, किन्तु कर्मयोगी कर्मफलासक्ति को छोड़ने के कारण पूर्ण शान्ति प्राप्त करता है और प्रसन्नतापूर्वक रहता है (57, 58)। यहाँ यह समझना चाहिए कि जिसके द्वारा कर्म-फल की आशा नहीं त्यागी गई है वह कर्मयोगी नहीं हो सकता है, कर्म-फल की आशा का त्याग करने वाला व्यक्ति ही योगारूढ (कर्मयोगी) कहा जाता है (65, 66)।

यहाँ यह नहीं भूलना चाहिए कि समता की भूमिका में ही अनासक्तता पनपती है। जिसका मन समता में स्थिर है, उसके द्वारा ही आसक्ति पर विजय प्राप्त की जा सकती है (60)। समतापूर्वक कर्मों को करना ही कर्मों को करने में कुशलता कही गई है (10, 11)। समता प्राप्त होने पर ही मानसिक तनाव-मुक्तता उत्पन्न होती है। कर्मयोगी समतावान होता है, इसलिए अनासक्तिपूर्वक कर्म करता है। कर्मयोगी फलासक्ति को छोड़कर सफलता और असफलता में तटस्थ होकर तथा समता में विद्यमान रहकर कर्म करता है (10)। वह तनाव उत्पन्न करनेवाले¹ सुकर्म

1. विस्तार के लिए देखें 'अष्टपाहुड-चयनिका' की प्रस्तावना।

और दुष्कर्म दोनों को ही त्याग देता है और समतापूर्वक कर्म करता है (11) ।

जिस प्रकार समता की भूमिका में अनासक्तता पनपती है, उसी प्रकार गुणातीत होने पर भी अनासक्तता उत्पन्न होती है । कर्मयोगी गुणातीत होता है, इसलिए अनासक्तिपूर्वक कर्म करता है । वह प्रकृति के गुणों (सत्त्व, रज और तम) और उनसे उत्पन्न कर्मों में आसक्त नहीं होता है (37) । प्रकृति के गुणों से मोहित सामान्य व्यक्ति गुणों और कर्मों में आसक्त होते हैं (38, 93) । यहाँ यह समझना चाहिए कि गुण-सत्त्व, रज और तम-प्रकृति से उत्पन्न होते हैं । वे अविनाशी आत्मा को शरीर में बाँधते हैं (150) । सत्त्व के बढ़ने पर प्रकाश और आध्यात्मिक ज्ञान उत्पन्न होते हैं (151) । रजोगुण के बढ़े हुए होने पर लोभ, घोर सांसारिक जीवन, कर्मों के लिए हिंसा, मानसिक अशान्ति तथा विषयों में लालसा-ये उत्पन्न होते हैं (152) । तमोगुण के बढ़े हुए होने पर आध्यात्मिक अन्धकार, आलस्य-युक्त आचरण, महत्वपूर्ण कार्यों की अवहेलना तथा आसक्ति-ये पैदा होते हैं (153) । जब योगी गुणों से भिन्न आत्मा का अनुभव कर लेता है, तो वह गुणातीत होकर अमरता को प्राप्त कर लेता है और अनासक्ति का जीवन जीता है (154, 155) ।

जिस प्रकार समता की भूमिका में अनासक्ति पनपती है और जिस प्रकार गुणातीत की भूमिका में भी अनासक्तता उत्पन्न होती है, उसी प्रकार भक्ति की भूमिका में भी अनासक्तता का उदय होता है । गीता के अनुसार सगुण भक्त (व्यक्त की उपासना करने

वाला और निर्गुण भक्त (अव्यक्त की उपासना करनेवाला)-दोनों ही सब प्राणियों के कल्याण में संलग्न रहते हैं (129)। भक्त सभी कर्म परमात्मा को अर्पण करके करता है, इसलिए वह फलों में आसक्ति से रहित होता है (114, 115, 126, 134, 135)। चाहे भक्त अव्यक्त की उपासना करनेवाला हो, चाहे वह व्यक्त की उपासना करनेवाला हो-दोनों अवस्थाओं में उसके कर्म अनासक्ति पूर्वक होते हैं (130, 135)। गीता ने चार प्रकार के भक्त कहे हैं : दुःखी, ज्ञान का इच्छुक, धन का इच्छुक और ज्ञानी (96)। इनमें से ज्ञानी की भक्ति ही अद्वितीय होती है (97)। वह ही अनासक्तिपूर्वक कर्म करने के योग्य होता है। यहाँ यह ध्यान देना प्रासंगिक है कि गीता के अनुसार अव्यक्त परमात्मा की उपासना करनेवालों की अपेक्षा व्यक्त परमात्मा की उपासना करनेवाले श्रेष्ठ हैं, क्योंकि मनुष्यों द्वारा अव्यक्त-उपासना का पथ कठिनाई से पकड़ा जाता है (127, 128, 131)। अतः गीता का शिक्षण है कि भक्ति का अभ्यास करते हुए सब कर्मों के फल में आसक्ति का त्याग करना चाहिए (135)। यहाँ यह समझना चाहिए कि भक्ति के बढ़ होने से कर्मों के फल में आसक्ति का त्याग होता है और कर्मों के फल में आसक्ति का त्याग करने से भक्ति बढ़ती है। चाहे व्यक्त परमात्मा की उपासना की जाए, चाहे अव्यक्त की उपासना की जाए-दोनों में पूर्णता प्राप्त कर लेने पर लोक-कल्याण के लिए कर्म किए जाते हैं और कर्मों के फलों में कोई आसक्ति नहीं रहती है। भक्ति का माहात्म्य समझाने के लिए गीता कहती है कि जो भक्ति-विधि से व्यक्त की उपासना करते हैं, वे गुणातीत होकर ब्रह्ममय हो जाते हैं (158)। यदि दुर्जन व्यक्ति भी भक्ति में लग जाता है, तो वह शीघ्र ही सद्गुणी बन

जाता है (117, 118) । मृत्यु के समय में परमात्मा का स्मरण करता हुआ जो जीव शरीर को छोड़कर बिदा होता है वह उच्चतम दिव्य परमात्मा को प्राप्त करने के योग्य बन जाता है (101, 104, 105, 106) । भक्ति की पूर्णता होने पर अनासक्त कर्म स्वाभाविक हो जाता है । इस तरह से भक्तयोगी भी कर्मयोगी की कोटि में आ जाता है ।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि भक्तयोगी, गुणातीत व कर्मयोगी आत्मानुभव की उच्चतम अवस्था प्राप्त करने के पश्चात् लोक-कल्याण के लिए अनासक्तिपूर्वक कर्म करते हैं । किन्तु ज्ञानयोगी या कर्मसंन्यासी उस अवस्था पर पहुँचने पर कर्मों को त्याग देता है । यद्यपि दोनों प्रकार के योगियों की अन्तरंग अवस्था एक ही है, फिर भी एक अनासक्तिपूर्वक कर्म करता है और दूसरा कर्मों से विमुक्त हो जाता है । इसका कारण योगियों की प्रकृति ही प्रतीत होता है । किन्तु गीता तों कर्मयोगी को ही ज्ञानयोगी (कर्मसंन्यासी) से श्रेष्ठ मानती है । इसके निम्नलिखित कारण गीता में उल्लिखित हैं :

1) इस जगत में जनकादि महायोगी हुए हैं । आत्मानुभव की उच्चतम अवस्था प्राप्त कर लेने के पश्चात् जैसा उन्होंने किया है, वैसा ही अन्य योगियों को भी करना चाहिए । गीता का कहना है कि जनकादि ने कर्म के द्वारा जगत का कल्याण किया है । इसलिए प्रत्येक योगी को चाहिए कि लोक-कल्याण को महत्वपूर्ण मानता हुआ कर्म में संलग्न रहे (30) । ठीक ही है कर्म से विमुक्त होने पर लोक को नैतिक-आध्यात्मिक मूल्यों की ओर कौन आकर्षित करेगा ? यहाँ यह समझना चाहिए कि वैज्ञानिक जो बात

हमें बताता है उससे भिन्न प्रकार की बात योगी हमें बताता है । वैज्ञानिक हमारे लिए कितना ही महत्वपूर्ण क्यों न हो, किन्तु मूल्यात्मक दिशा तो महायोगियों से ही हमें प्राप्त हो सकती है । वे यदि निष्क्रिय हो जाएँ, तो व्यक्ति और समाज दिशा-विहीन हो जायेंगे । विज्ञान हमें प्रचुर सुविधा दे सकता है, किन्तु परम शान्ति नहीं । परम शान्ति तो जीवन के मूल्यात्मक विकास से ही संभव होती है । इस मूल्यात्मक विकास का मार्ग महायोगी (कर्मयोगी) ही हमें बता सकते हैं । सच तो यह है कि महायोगी जो आचरण करता है सामान्य व्यक्ति भी उसका ही अनुसरण करते हैं । वह आचरण के जिस आदर्श को प्रस्तुत करता है, लोग उसका ही अनुकरण करते हैं (31) । अतः योगी समाज की विभिन्न परिस्थितियों में कर्मों के ऐसे आदर्श प्रस्तुत करे कि लोग उन विभिन्न परिस्थितियों में कर्मों के आदर्श के अनुरूप दृढ़तापूर्वक कर्म करते रहें । कर्मयोगी प्रकाश-स्तम्भ होते हैं और वे ही यदि कर्म-विमुख हो जाएँ तो समाज में अन्धकार व्याप्त हो जायेगा । अतः कर्म-योग, ज्ञानयोग (कर्मसंन्यास) से श्रेष्ठ है (26, 52) ।

2) मनोविज्ञान हमें बताता है कि मानव के व्यक्तित्व में ज्ञानात्मक, संवेगात्मक और क्रियात्मक (कर्मात्मक) —ये तीनों पक्ष वर्तमान होते हैं । कर्म, ज्ञान और संवेग पर आश्रित होते हैं । संवेग सदैव तृप्त होना चाहते हैं जिसके परिणामस्वरूप इच्छाएँ उत्पन्न होती हैं । इच्छाओं की उत्पत्ति और उनकी तृप्ति की आकांक्षा सदैव साथ-साथ होती है । तृप्ति की यह आकांक्षा उद्देश्यात्मक क्रियाओं में अभिव्यक्त होती है । जैसे किसी के प्रति प्रेम का संवेग है तो वह संवेग संबंधित व्यक्ति को लाभ पहुँचाने

की इच्छा में परिणत होकर अपनी तृप्ति की दिशा में सक्रिय हो जाता है। इस तरह से इस जगत में व्यक्ति रागात्मक कर्म और द्वेषात्मक कर्म करने में लगा रहता है। प्राणियों के साथ-साथ व्यक्ति वस्तुओं से भी राग-द्वेषात्मक संबंध जोड़ लेता है। यही आसक्ति है। संसारी प्राणी कर्मों में आसक्त होकर कर्म करते हैं (34)। यहाँ गीता का कहना है कि अनासक्त ज्ञानी (कर्मयोगी) लोक-कल्याण को करने के लिए कर्म करे (34)। इससे आसक्त व्यक्तियों की मति में कर्मों के प्रति अरुचि पैदा नहीं होगी। उनको समझाया जा सकेगा कि वे आसक्ति को त्यागकर कल्याणकारी कर्म करें (35)। इससे समाज में आसक्ति से उत्पन्न होनेवाली बुराइयाँ समाप्त हो सकेंगी और समाज में विकास की गति तीव्र होगी। इसलिए गीता का शिक्षण है कि कर्मयोगी (अनासक्त व्यक्ति) सब कल्याणकारी कर्मों का भली-भाँति आचरण करता हुआ दूसरों को भी उनका अभ्यास करावे (35)। गीता के शिक्षण से यह फलित होता है कि ज्ञानयोगी संसारी प्राणियों में कर्मों के प्रति अरुचि उत्पन्न करनेवाला होगा और यह बात लोक के लिए हानिकारक सिद्ध होगी। अतः कर्मयोग, ज्ञानयोग (कर्मसंन्यास) से श्रेष्ठ है

3) यह सच है कि जो व्यक्ति आत्मा में ही तृप्त है, जिसकी आत्मा में ही प्रीति है तथा जो आत्मा में ही संतुष्ट है, उसके लिए इस लोक में कोई कर्तव्य वर्तमान नहीं है (27)। उसे अपने लिए अब कुछ प्राप्त नहीं करना है। उसमें अब कोई स्वार्थपूर्ण प्रयोजन नहीं बचा है (28)। फिर भी गीता का शिक्षण है कि ऐसा व्यक्ति परार्थ के लिए ही कर्म करे (29)। इससे संसार

में परार्थ के लिए कर्म करने की प्रतिष्ठा बढ़ेगी और व्यक्ति की स्वार्थपूर्ण वृत्तियों पर अंकुश लग सकेगा। इस कारण से भी कर्म-योग, ज्ञानयोग (कर्मसंन्यास) से श्रेष्ठ है।

4) मनुष्य में त्रिगुणात्मक प्रकृति विद्यमान है। अतः वह सत्त्व, रज और तम के वशीभूत होकर कर्म करता ही है। वह कर्म करने में पराश्रित है, त्रिगुणात्मक प्रकृति पर आश्रित है (25)। जब सर्वत्र प्रकृति के गुणों द्वारा कर्म कराये जाते हैं, तो यह मान लेना कि व्यक्ति उनका कर्ता है अनुचित है। कर्तृत्व भाव के समाप्त होने से अहंकार समाप्त होता है और व्यक्ति अनासक्त हो जाता है (37)। केवल प्रकृति के गुणों से मोहित व्यक्ति ही गुण और कर्मों में आसक्त होते हैं (38)। यहाँ गीता का शिक्षण है कि अनासक्त व्यक्ति कर्म न करके मोहित व्यक्तियों को न भटकाए (38)। आवश्यकता यह है कि व्यक्ति के मोह को तोड़ा जाए, किन्तु उसे कर्मों से विमुख न किया जाए। कर्तृत्व भाव को समाप्त किया जाए, कर्मों को नहीं। कर्मों को लोक-कल्याणकारी दिशा दे दी जावे। कर्मयोगी ऐसी दिशा में ही कर्म करता है। अतः कर्मयोग, ज्ञानयोग (कर्मसंन्यास) से श्रेष्ठ है।

5) कर्मयोग की पुष्टि में गीता का कहना है कि परमात्मा स्वयं कर्म में लगा हुआ है। यद्यपि परमात्मा के लिए तीनों लोकों में कुछ भी कर्तव्य नहीं है तथा जो वस्तु प्राप्त की जानी चाहिए वह भी अप्राप्त नहीं है, तथापि वह कर्म में ही डटा रहता है (32)। ऐसा नहीं करने पर जगत में अव्यवस्था व्याप्त हो जायेगी और मनुष्य भी कर्म न करने का अनुसरण करेंगे (33)। अतः कर्मयोगी (परमात्मा की तरह) अनासक्त होकर लोक-कल्याण के

लिए कर्म में डटा रहता है। इसलिए कर्मयोग ज्ञानयोग (कर्म-संन्यास) से श्रेष्ठ है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि गीता के अनुसार कर्मयोगी लोक के लिए बहुत ही महत्त्व का है। इसी कोटि में भक्तयोगी व गुणातीत भी सम्मिलित हैं। यहाँ यह नहीं भूलना चाहिए कि अनासक्तता कर्मयोग का प्राण है, किन्तु पूर्ण अनासक्तता आत्मानुभव के पश्चात् ही घटित होती है। यहाँ यह प्रश्न उपस्थित होता है कि सामान्य व्यक्ति ऐसी स्थिति में कैसे चले? इसके उत्तर में गीता का कहना है कि सामान्य व्यक्ति यदि अनासक्त वृत्ति का बहुत थोड़ा सा अभ्यास भी करता है तो वह अत्यधिक मानसिक संकट से अपने आप को बचा सकता है (6)। यहाँ यह समझना चाहिए कि जितने अंश में अनासक्तता पाली जाती है, उतने ही अंश में व्यक्ति नैतिक-आध्यात्मिक दृष्टिकोण से आगे बढ़ता है। यद्यपि पूर्णता की प्राप्ति आदर्श है तथापि उस ओर यथाशक्ति किया गया प्रयास भी हमें विकासोन्मुख बनाता है। इसका अभिप्राय यह है कि व्यक्ति किसी भी न्यायोचित सामाजिक भूमिका में रहते हुए परार्थ के लिए कदम उठा सकता है। स्वार्थ-पूर्ण मानसिक स्थिति का थोड़ा सा भी त्याग तथा लोक-कल्यात्मक दृष्टि का आचरण व्यक्ति व समाज दोनों के लिए हितकारी होते हैं। यदि मनुष्य समाज में रहते हुए दैवी संपदा से प्रेरित होकर किसी भी न्यायोचित सामाजिक भूमिका का निर्वाह करता है, तो अनासक्ति की ओर कदम बढ़ाना सरल हो जाता है। उस भूमिका में लोक-कल्याण का अभ्यास, अनासक्ति का अभ्यास ही है, कर्म-फलासक्ति का त्याग, समता की ओर अग्रसर होना ही है तथा

परार्थ के प्रति जागृति, अनासक्ति के प्रति जागरूकता ही है। यह जागरूकता ही हमें कर्मयोगी बनने के लिए प्रेरित करती रहेगी। अतः अनासक्ति का अभ्यास व्यक्ति को मानसिक तनाव से थोड़ा-बहुत तो मुक्त करता ही है। आसक्ति मानसिक तनाव की जनक है (56)। इससे व्यक्ति की बुद्धि में अस्थिरता पैदा होती है जिसके परिणामस्वरूप व्यक्ति अनासक्ति की साधना करने में असमर्थ रहता है (8)।

साधना का मार्ग :

अनासक्ति की प्राप्ति जीवन का आदर्श है। कर्म-फल में आसक्ति अज्ञान है। कर्म-फल में आसक्ति दुःख का कारण है। कर्मयोगी, भक्तयोगी तथा गुणातीत अनासक्ति का जीवन जीते हैं और लोक-कल्याण के लिए कर्म करते हैं। यह कहा गया है कि असंयमी व्यक्ति के द्वारा योग प्राप्त नहीं किया जा सकता है (91)। दुराचारी, दानवी भाव का अनुसरण करनेवाले, अज्ञानी व बुरे मनुष्य परमात्मा (अनासक्ति) का अनुभव नहीं कर सकते हैं (95)। बहुत खाने वाले व्यक्ति, बिल्कुल न खानेवाले व्यक्ति, बहुत निद्रालु व्यक्ति, और बहुत जागनेवाले व्यक्ति योग के लिए अयोग्य माने गये हैं (75)। प्रयत्न करते हुए संयमी व्यक्ति के द्वारा ही योग प्राप्त किया जा सकता है (91)।

साधना के लिए सबसे पहली आवश्यकता है शाश्वत में श्रद्धा अनश्वर आत्मा में श्रद्धा। अश्रद्धालु तथा संशय करने वाला व्यक्ति नष्ट हो जाता है (50)। अश्रद्धा करता हुआ व्यक्ति जन्म-मरण की परम्परा में फँसा रहता है (109)। सच यह है कि

आत्मा अनादि, अनश्वर और चिरस्थायी है (2)। शरीर के नाश होने पर यह नष्ट नहीं होता है (2)। जैसे जीव के वर्तमान शरीर में बचपन, जवानी और बुढ़ापा देखा जाता है, वैसे ही मृत्यु के पश्चात् इस जीव के लिए दूसरे शरीर का मिलना (1)। जैसे कोई मनुष्य फटे-पुराने कपड़ों को छोड़कर दूसरे नये कपड़ों को धारण करता है, वैसे ही जीव जर्जर शरीर को छोड़कर दूसरे नये शरीरों में प्रवेश करता है (3)। आत्मा की अनश्वरता में श्रद्धा होने पर शरीर परिवर्तन की स्थिति में व्याकुलता नहीं होती है (1)।

शाश्वत आत्मा में श्रद्धा के साथ-साथ मनुष्य में यह ज्ञान उत्पन्न होना चाहिए कि वह स्वयं ही स्वयं का बन्धु है और वह स्वयं ही स्वयं का शत्रु है। अतः स्वयं के द्वारा ही स्वयं का उद्धार संभव है (67)। स्वयं की हृदता के बिना योग-साधना असंभव ही रहती है। साधक को यह समझना चाहिए कि विषयों का चिन्तन मन में उनके प्रति आसक्ति पैदा कर देता है। आसक्ति से विषयों की कामना पैदा होती है। विषयों की कामना-पूर्ति में अड़चन पैदा होने पर क्रोध उत्पन्न होता है। क्रोध से व्याकुलता पैदा होती है। व्याकुलता से हेय-उपादेय के चिन्तन में अव्यवस्था होती है। चिन्तन के क्षीण होने से नैतिक-आध्यात्मिक मूल्यों की समझ का नाश हो जाता है और इस समझ के समाप्त होने पर जीवन का सार ही समाप्त हो जाता है (20, 21)। साधक को यह ज्ञान भी होना चाहिए कि इन्द्रिया शरीर से उच्चतर हैं; मन इन्द्रियों से उच्चतर है; बुद्धि मन से उच्चतर है और बुद्धि से परे आत्मा स्थित है (39)।

योग-साधना में सक्रिय होने के लिए इन्द्रिय-विषयों में आसक्ति पर और मन पर विजय प्राप्त करना आवश्यक है। मन के जीत लेने पर इन्द्रिय-विषयों में आसक्ति भी जीत ली जाती है। निश्चय ही यह मन चंचल है तथा कठिनाई से संयमित किया जानेवाला है। किन्तु इसे अभ्यास और वैराग्य से बश में किया जा सकता है (90)। वैराग्य के लिए जन्म-मरण-बुढ़ापा-रोग से उत्पन्न दुःखों को देखना-समझना उपयोगी होता है (144)। सच है कि संयमित मन ही हमारा बंधु है (परमात्मानुभव के लिए सहायक है) और असंयमित मन ही हमारा शत्रु है (आत्म - विकास को रोकनेवाला है) (68)। मन को नियन्त्रित करने के लिए उपयुक्त आहार-विहार तथा उपयुक्त निद्रा-जागरण आवश्यक है (76)। ब्रह्मचर्य का पालन तथा अपरिग्रह का जीवन दोनों ही साधना के लिए जरूरी हैं (72, 73, 74)। गीता का शिक्षण है कि जब मन बाहर विषयों की ओर दौड़े, तो उसे वहाँ से हटाकर साधक उसे आत्मा में लगाए (85)।

साधना की सफलता के लिए जीवन में सद्गुणों का विकास किया जाना चाहिए। धैर्य, ईर्ष्या से मुक्ति, एकान्तवास, गृह आदि में संबंध का अभाव, विनम्रता, निष्कपटता, अहिंसा, सरलता, आध्यात्मिक गुरु की सेवा, आध्यात्मिक ज्ञान की निरन्तरता, एकाग्रता, निष्पक्षता करुणा, क्षमा, निर्भयता आदि गुण विकसित किए जाने चाहिए (46, 136, 139, 143, से 147) साधक को चाहिए कि वह अपनी आत्मा के साक्ष्य से सब प्राणियों में समानता देखे और उनके सुख-दुःख को भी अपनी आत्मा के साक्ष्य

से देखे (89) । साधक को दैवी संपदा¹ से युक्त होना चाहिए (160-162) ।

ध्यान और भक्ति से ही साधना आगे बढ़ती है और पूर्णता तक पहुँच जाती है । जैसे वायु से सुरक्षित स्थान में विद्यमान दीपक हिलता-डुलता नहीं है, उसी प्रकार आत्मा के ध्यान में लगे हुए योगी का चित्त स्थिर हो जाता है (78) । साधक, शरीर, सिर और गर्दन को एक साथ व्यवस्थितरूप से रखता हुआ बड़ रहे और इधर-उधर न देखता हुआ अपनी नाक के अग्रभाग को देखकर परमात्मा में लीन होवे (73, 74) । गीता का कहना है कि ध्यान के अभ्याससहित चित्त के द्वारा तथा एकाग्रचित्त से ध्यान करता हुआ साधक उच्चतम दिव्य आत्मा को प्राप्त कर लेता है (103) । ध्यान की साधना के साथ भक्ति भी महत्वपूर्ण है । परमात्मा का दिव्य स्वरूप भक्ति से अनुभव किया जा सकता है (125) । जो आराधक श्रद्धा से युक्त होकर सगुण (व्यक्त) की उपासना करते हैं, वे सर्वोत्तम कहे गये हैं (128) । निर्गुण (अव्यक्त) की उपासना करनेवाले भी परमात्मा को पहुँचते हैं, किन्तु यह पथ कठिन है (129, 130, 131) । जो एकनिष्ठ भक्ति-विधि से परमात्मा की उपासना करता है, वह त्रिगुणों के पूर्णतः परे जाकर ब्रह्म हो जाता है (158) । जिनकी परमात्मा में ही बुद्धि है, जिनका उसमें ही मन है, जिनकी उसमें ही श्रद्धा है, जो उसमें ही लीन है, वे पूर्णता को प्राप्त कर लेते हैं (59) ।

1. इसका विवेचन पृष्ठ सं. iii और iv पर देखें ।

साधना की पूर्णता :

साधना की पूर्णता होने पर हमें ऐसे महायोगी के दर्शन होते हैं जो आत्मानुभव की सर्वोच्च अवस्था प्राप्त करने के पश्चात् लोक-कल्याणकारी कर्मों में संलग्न रहता है तथा व्यक्ति और समाज के नैतिक-आध्यात्मिक विकास के लिए प्रेरणा-स्तम्भ होता है। गीता में ऐसे महायोगी की विशेषताओं को बड़ी सूक्ष्मता से दर्शाया गया है। उसे कर्मयोगी, भक्तयोगी, गुणातीत, योगारूढ़, ब्रह्मयोगी, ब्रह्मज्ञानी आदि शब्दों से इंगित किया गया है। यहाँ यह समझना चाहिए कि इन सभी योगियों की बुद्धि स्थिर हो जाती है, इसलिए ये सभी स्थितप्रज्ञ भी कहे जा सकते हैं। स्थित-प्रज्ञ अवस्था प्राप्त करने के पश्चात् ही लोक-कल्याण के लिए सफलतापूर्वक कर्म किए जा सकते हैं। अतः महायोगी स्थितप्रज्ञ होता है। उसकी निम्नलिखित विशेषताएँ हैं :

(i) जब व्यक्ति समस्त इच्छाओं को त्याग देता है तथा आत्मा से ही आत्मा में तृप्त होता है, तब वह स्थितप्रज्ञ कहा जाता है (14)। (ii) जिसका मन दुःखों में शोकरहित बना रहता है, जिसकी सुखों में लालसा नष्ट हो गई है, जिसका राग, भय और क्रोध विदा हो गया है, वह स्थितप्रज्ञ कहा जाता है (15)। (iii) जब व्यक्ति इन्द्रियों को इन्द्रिय-विषयों में प्रवृत्त होने से पूरी तरह से रोक लेता है, जैसे कछुवा सब ओर से अपने अंगों को समेट लेता है, तब वह स्थितप्रज्ञ कहा जाता है (17)। सामान्य-तया सब मनुष्यों के जीवन में जो रात्रि (विस्मृत आध्यात्मिक स्थिति) है, उस आध्यात्मिक स्थिति के प्रति संयमी सदैव जागता (सक्रिय) रहता है। जिस इन्द्रिय-सुख में मनुष्य जागते (सक्रिय)

रहते हैं, आत्मा का अनुभव करते हुए ज्ञानी के जीवन में वह रात्रि (इन्द्रिय-सुख) निरर्थक होती/होता है (22)। जिसकी इन्द्रियाँ नियन्त्रण में होती हैं, उसकी बुद्धि स्थिर हो जाती है (19)। (iv) जो व्यक्ति आसक्तिरहित होता है तथा भिन्न-भिन्न इष्ट-अनिष्ट वस्तुओं को प्राप्त करके न उनको चाहता है और न ही उनसे घृणा करता है, वह स्थितप्रज्ञ कहा जाता है (16)। (v) विषयों-रूपी आहार का त्याग करनेवाले सामान्य मनुष्य के केवल इन्द्रिय-विषय ही दूर होते हैं, किन्तु उनमें स्वाद-रस समाप्त नहीं होता है। परमात्मा का अनुभव करने के पश्चात् स्थितप्रज्ञ का इन्द्रिय-विषयों के दूर होने के साथ-साथ उनमें स्वाद-रस भी समाप्त हो जाता है (18)। (vi) जो निरासक्त और स्थिर बुद्धिवाला है, वह ब्रह्मज्ञानी ब्रह्म में स्थिर रहता है। वह प्रिय वस्तु को प्राप्त करके हर्षित नहीं होता है और अप्रिय वस्तु को प्राप्त करके दुःखी नहीं होता है (61)। (vii) जिस अवस्था को प्राप्त करके जब व्यक्ति दूसरे किसी भी लाभ को उस अवस्था से अधिक ग्रहणीय नहीं मानता है और जिस अवस्था में स्थित व्यक्ति अत्यधिक दुःख के द्वारा भी जब विचलित नहीं किया जाता है, तो व्यक्ति की वह अवस्था योग की अवस्था (स्थितप्रज्ञ-अवस्था) कही जाती है (81)। (viii) जो व्यक्ति आध्यात्मिक अनुभव और लौकिक ज्ञान से तृप्त है, जो सर्वोच्च अनुभव पर स्थित है, जो जितेन्द्रिय है और जिसके लिए ढेला, कीमती पत्थर और सोने से बनी हुई वस्तु समान है, वह योगी (स्थितप्रज्ञ) परमात्मा में लीन कहा जाता है (70)। (ix) जो व्यक्ति आन्तरिकरूप से शान्त है, जिसमें आन्तरिक रूप से प्रसन्नता है और जो आन्तरिक रूप से प्रकाश ही है, वह योगी (स्थितप्रज्ञ) है और वह परमात्मा में लीन अवस्था प्राप्त करता है

(63) । (x) जो आत्मा को सब प्राणियों में स्थित देखता है तथा सब प्राणियों को आत्मा में स्थित देखता है वह आत्मानुभव से युक्त व्यक्ति (स्थितप्रज्ञ) हर समय इसी प्रकार समानरूप से देखने-वाला होता है (87) । (xi) पवित्र योगी निरन्तर आत्मों को परमात्मा में लगाता हुआ परमात्मा के प्रत्यक्ष ज्ञान को प्राप्त करता है और उसके फलस्वरूप वह अनन्तसुख का अनुभव करता है (86) ।

जो स्थितप्रज्ञ हो जाता है, जो योगी हो जाता है, वह ही कर्मयोगी, भक्तयोगी और गुणातीत होता है । उनकी निम्नलिखित विशेषताएँ हैं -

कर्मयोगी :

(i) आसक्तिपूर्वक कर्म करनेवाले की बुद्धि अस्थिर होती है, किन्तु अनासक्तिपूर्वक कर्म करने वाले (कर्मयोगी) की बुद्धि स्थिर और ऊर्जावान होती है (7, 8) । (ii) प्रज्ञावान मनुष्य कर्मों से उत्पन्न फल में आसक्ति को छोड़कर स्वस्थ (समतामयी) स्थिति को प्राप्त करते हैं (12) । (iii) जो पुरुष समस्त कामनाओं को छोड़कर आसक्तिरहित, अहंकाररहित तथा सन्तुष्ट होकर व्यवहार करता है, वह शान्ति प्राप्त करता है (23) । (iv) जो मनुष्य आत्मा में ही तृप्त है तथा आत्मा में ही सन्तुष्ट है, उसका लोक में कोई कर्तव्य विद्यमान नहीं है । उसका किसी भी प्राणी से कोई स्वार्थपूर्ण प्रयोजन नहीं है । किन्तु गीता का शिक्षण है कि ऐसा व्यक्ति (कर्मयोगी) करने योग्य कर्म करता रहे, क्योंकि कर्म को करता हुआ अनासक्त मनुष्य परमात्मा को

प्राप्त कर लेता है (27, 28, 29)। (v) अनासक्त मनुष्य (कर्मयोगी) लोक-कल्याण के लिए कर्म करता है (34)। (vi) जो संयोगवश लाभ से सन्तुष्ट है, जो दो विरोधी (हर्ष-शोक आदि) अवस्थाओं से परे (द्वन्द्वातीत) है, जो ईर्ष्या से मुक्त है, जो सफलता और असफलता में समान है, जिसने समस्त संशय को ज्ञान द्वारा छिन्न-भिन्न कर दिया है, जिसने समस्त कर्मफलासक्ति को त्याग दिया है, वह व्यक्ति (कर्मयोगी) लोक-कल्याण के लिए कर्मों को करके भी नहीं बाँधा जाता है (46, 51)। (vii) साधारण जन अपनी कामनाओं में लिप्त रहने के कारण कर्म-फल में आसक्त रहते हैं, इसलिए मानसिक तनाव से दुःखी होते हैं। किन्तु कर्मयोगी कर्मफलासक्ति को छोड़कर कर्म करते हुए भी शान्ति प्राप्त करता है (56)। (viii) जिनके द्वारा सब दोष नष्ट कर दिए गए हैं, जिनके द्वारा सब सन्देह समाप्त कर दिए गए हैं जिनके द्वारा मन ब्रह्म में कर लिया गया है, जो सब प्राणियों के कल्याण में संलग्न रहते हैं, वे ऋषि (कर्मयोगी) परमात्मा में लीन अवस्था को प्राप्त करते हैं (64)। (ix) जब कोई न तो इन्द्रियों के विषय में और न ही कर्मों में आसक्त होता है, तो सब कर्मफल की आशा का त्याग करनेवाला वह व्यक्ति योगारूढ (कर्मयोगी) कहा जाता है (66)।

भक्तयोगी :

(i) कर्मों को परमात्मा में समर्पित करके और उनमें आसक्ति को छोड़कर जो व्यक्ति (भक्तयोगी) कर्मों को करता है, वह आसक्ति से उत्पन्न होने वाले दोषों से मलिन नहीं किया जाता है (55)। (ii) परमात्मा में विश्वास करनेवाला जो व्यक्ति सब प्राणियों में स्थित परमात्मा को भजता है, वह भक्तयोगी

चयनिका

[xxiii

सब तरह से कर्तव्य निभाते हुए भी परमात्मा में टिका रहता है (88) । (iii) परमात्मा में केन्द्रित मन और बुद्धिवाला भक्त जो सब प्राणियों के लिए सौहार्दपूर्ण और करुणायुक्त है, जो ममता-रहित, अहंकाररहित क्षमावान और सुख-दुःख में समतायुक्त है, जो सदाभक्ति करनेवाला है, स्वसंयत और दृढ़ संकल्पवाला है, वह भक्त परमात्मा को प्रिय होता है (136, 137) । (iv) जिससे कोई भी प्राणी भयभीत नहीं होता है, और जो किसी भी प्राणी से भयभीत नहीं होता है, जो कामना, ईर्ष्यायुक्त क्रोध, भय और चित्त की अस्थिरता से रहित है, वह भक्त परमात्मा के लिए प्रिय होता है (139) । (v) जो इच्छारहित है, निष्पक्ष है, सद्गुणी और कुशल है, दुःख से मुक्त है और जो समस्त हिंसा का त्यागी है, वह आराधक परमात्मा को प्रिय होता है (139) । (vi) जो हर्षोन्मत्त नहीं होता है, जो घृणा नहीं करता है, जो शोक नहीं करता है, जो चाहना नहीं करता है, और जो शुभ-अशुभ फल की आसक्ति का त्यागी है, वह आराधक परमात्मा को प्रिय होता है (140) । (vii) जो शीत और उष्ण स्पर्शों में तथा सुख और दुःख में समतायुक्त है, जो आसक्तिरहित है, जिसके लिए निन्दा और प्रशंसा समान हैं, जो धर-रहित और स्थिर बुद्धिवाला है, वह आराधक परमात्मा को प्रिय होता है (141, 142) ।

गुणातीत :

जो आत्मा में स्थित है, जिसके लिए सुख-दुःख समान हैं, जो अपनी निन्दा-प्रशंसा में समतायुक्त है, जिसके लिए इष्ट-अनिष्ट वस्तुएँ समान श्रेणी की होती हैं, जो प्रशान्त है, जिसके लिए मिट्टी का ढेला, कीमती पत्थर और सोना समरूप हैं, जो मान-अपमान

में संतुलित है, जो शत्रु और मित्र के विषय में एक सा रहता है तथा जो सब प्रकार की हिंसा का त्यागी होता है, वह त्रिगुणों (सत्त्व, रज और तम) से परे (त्रिगुणातीत) कहा जाता है (156, 156) ।

गीता-चयनिका के उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि गीता में जीवन के मूल्यात्मक पक्ष की सूक्ष्म अभिव्यक्ति हुई है। इसी विशेषता से प्रभावित होकर यह चयन पाठकों के समक्ष प्रस्तुत करते हुए हर्ष का अनुभव हो रहा है। श्लोकों का हिन्दी अनुवाद मूलानुगामी रहे, ऐसा प्रयास किया गया है। यह दृष्टि रही है कि अनुवाद पढ़ने से ही शब्दों की विभक्तियाँ एवं उनके अर्थ समझ में आजाएँ। अनुवाद को प्रवाहमय बनाने की भी इच्छा रही है। कहाँ तक सफलता मिली है, इसको तो पाठक ही बता सकेंगे। अनुवाद के अतिरिक्त श्लोकों का व्याकरणिक विश्लेषण भी प्रस्तुत किया गया है। इस विश्लेषण में जिन संकेतों का प्रयोग किया गया है, उनको संकेत सूची में देखकर समझा जा सकता है। यह भाषा की जाती है कि संस्कृत को व्यवस्थित रूप में सीखने में सहायता मिलेगी तथा व्याकरण के विभिन्न नियम सहज में ही सीखे जा सकेंगे। यह सर्व विदित है कि किसी भी भाषा को सीखने के लिए व्याकरण का ज्ञान अत्यावश्यक है। प्रस्तुत श्लोकों एवं उनके व्याकरणिक विश्लेषण से व्याकरण के साथ साथ शब्दों के प्रयोग भी सीखने में मदद मिलेगी। शब्दों की व्याकरण और उनका अर्थपूर्ण प्रयोग दोनों ही भाषा सीखने के आधार होते हैं। अनुवाद एवं व्याकरणिक विश्लेषण जैसा भी बन पाया है पाठकों के समक्ष है। पाठकों के सुभाव मेरे लिए बहुत ही काम के होंगे।

आभार :

गीता-चयनिका के लिए एस. के. बेलवलकर द्वारा संपादित भगवद्गीता [भीष्मपर्व के अन्तर्गत, महाभारत का छटा खण्ड] का उपयोग किया गया है। इसके लिए श्री बेलवलकर के प्रति अपनी कृतज्ञता व्यक्त करता हूँ। भीष्मपर्व का यह संस्करण भण्डारकर प्राच्य शोध संस्थान, पूना से सन् 1947 में प्रकाशित हुआ है।

डॉ. मूलचन्द्र पाठक, प्रोफेसर, संस्कृत-विभाग, सुल्हाड़िया विश्वविद्यालय, उदयपुर ने गीता-चयनिका का प्राक्कथन लिखने की स्वीकृति प्रदान की, इसके लिए मैं उनका हृदय से कृतज्ञ हूँ। उन्होंने इसके हिन्दी अनुवाद और व्याकरणिक विश्लेषण को देखकर महत्वपूर्ण सुधार सुझाए तथा इसको प्रस्तावना को पढ़ने व सुनने का समय दिया। अतः मैं उनका आभारी हूँ।

डॉ. रामचन्द्र द्विवेदी, प्रोफेसर, संस्कृत-विभाग, राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर तथा डॉ. दयानन्द भार्गव, प्रोफेसर संस्कृत-विभाग, जोधपुर विश्वविद्यालय, जोधपुर ने गीता-चयनिका पर जो सम्मति लिखी है, उसके लिए मैं उनका कृतज्ञ हूँ।

डॉ. पी. के. माथुर, सह-प्रोफेसर, दर्शन विभाग, सुल्हाड़िया विश्वविद्यालय, उदयपुर डॉ. श्यामराव व्यास, सहायक प्रोफेसर, दर्शन-विभाग, सुल्हाड़िया विश्वविद्यालय, उदयपुर, श्री एस. एन. जोशी, सह-प्रोफेसर, अंग्रेजी-विभाग, सु. वि. उदयपुर, डॉ. सी. वी. भट्ट, सह-प्रोफेसर रसायन-शास्त्र, विभाग, सु. वि. उदयपुर,

डॉ. बी. एल. बसेर, सह-प्रोफेसर मृदाविज्ञान एवं कृषि-रसायन-विभाग, श्री कर्णनरेन्द्र कृषि महाविद्यालय, जोबनेर [राजस्थान कृषि विश्वविद्यालय, बीकानेर] तथा श्री मोतीलालजी शर्मा, अधीक्षक, शारीरिक शिक्षा-विभाग, राजस्थान कृषि महाविद्यालय उदयपुर [राजस्थान कृषि विश्वविद्यालय, बीकानेर]- इन सभी ने गीता-चयनिका की प्रस्तावना को सुनने के लिए समय दिया। अतः मैं आभारी हूँ।

मेरी धर्म-पत्नी श्रीमती कमला देवी सोगाणी ने इस पुस्तक के श्लोकों का मूल ग्रन्थ से सहर्ष मिलान किया तथा प्रूफ-संशोधन में सहयोग दिया। इसके लिए आभार प्रकट करता हूँ।

इस पुस्तक को प्रकाशित करने के लिए प्राकृत-भारती अकादमी, जयपुर के सचिव श्री देवेन्द्रराज मेहता तथा संयुक्त सचिव एवं निदेशक महोपाध्याय श्री विनयसागरजी ने जो व्यवस्था की है, उसके लिए उनका हृदय से आभार प्रकट करता हूँ।

अग्रवाल प्रिन्टर्स, उदयपुर को सुन्दर छपाई के लिए धन्यवाद देता हूँ।

प्रोफेसर, दर्शन-शास्त्र
दर्शन-विभाग
सुसाड़िया विश्वविद्यालय
उदयपुर [राज.]

कमलचन्द सोगाणी

चयनिका]

[xxvii

गीता-चयनिका

गीता-चयनिका

1. देहिनोऽस्मिन्यथा देहे कौमारं यौवनं जरा।
तथा देहान्तरप्राप्ति धीरस्तत्र न मुह्यति॥

2. न जायते म्रियते वा कदाचि-
न्नायं भूत्वा भविता वा न भूयः।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो
न हन्यते हन्यमाने शरीरे॥

3. वासांसि जीर्णानि यथा विहाय
नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णा-
न्यन्यानि संयाति नवानि देही॥

4. नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः।
न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः॥

गीता--चयनिका

1. जैसे जीव के वर्तमान शरीर में बचपन, जवानी और बुढ़ापा (देखा जाता है), वैसे ही (मृत्यु के पश्चात् इस जीव के लिए) दूसरे शरीर का मिलना (समझा जाना चाहिए) । ज्ञानी (व्यक्ति) उसमें व्याकुल नहीं होता है ।
2. यह (आत्मा) कभी उत्पन्न नहीं होता है और (कभी) नष्ट नहीं होता है । तथा (यह आत्मा) (शून्य से) उत्पन्न होकर नये रूप से होने वाला नहीं है । (वस्तुतः) यह (आत्मा) अनादि (है), अनश्वर (है), (और) चिरस्थायी (है) । (इसकी बात) (अत्यन्त) पुरानी (है) । नाश किए जाते हुए शरीर के होने पर (भी) (यह) नष्ट नहीं किया जाता है।
3. जैसे (कोई) मनुष्य फटे-पुराने कपड़ों को छोड़कर दूसरे नये (कपड़ों) को धारण करता है, वैसे ही जीव जर्जर शरीरों को छोड़कर दूसरे नये (शरीरों) में प्रवेश करता है ।
4. इस (आत्मा) को शस्त्र नहीं काटते हैं; इसको आग नहीं जलाती है; इसको जल-बूँदें गीला नहीं करती हैं; तथा इसको हवा नहीं सुखाती है ।

5 एषा तेऽभिहिता सांख्ये बुद्धिर्योगे त्विमां शृणु ।
बुद्ध्या युक्तो यया पार्थ कर्मबन्धं प्रहास्यसि ॥

6 नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति प्रत्यवायो न विद्यते ।
स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात् ॥

7 व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरुनन्दन ।
बहुशास्त्रा ह्यनन्ताश्च बुद्धयोऽव्यवसायिनाम् ॥

8 भोगैश्वर्यप्रसक्तानां तयापहृतचेतसाम् ।
व्यवसायात्मिका बुद्धिः समाधौ न विधीयते ॥

9 कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन ।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि ॥

5. हे अर्जुन ! यह विवेचना तेरे लिए सांख्य (शुद्ध-ज्ञान द्वारा आत्मतत्त्व-विवेक जागृत करने) के संबंध में की गई (है); अब इस (विवेचना) को (तू) योग (अनासक्तिपूर्वक कर्म करने) के विषय में सुन, जिस समझ से भरा हुआ (तू) कर्म-बन्धन को भली प्रकार से नष्ट कर देगा ।
6. यहाँ (अनासक्तिपूर्वक कर्म करने के लिए) (किया गया) प्रयत्न व्यर्थ नहीं होता है (तथा) (इससे) कोई दोष (भी) उत्पन्न नहीं होता है । इस धर्म (अनासक्त वृत्ति) का बहुत थोड़ा सा (अभ्यास) भी अत्यधिक (मानसिक) संकट से (हमको) बचा देता है ।
7. हे अर्जुन ! इस दशा में (अनासक्तिपूर्वक कर्म करने में) प्रज्ञा (बुद्धि) स्थिर (और) ऊर्जावान् (होती है) । तथा निस्सन्देह प्रमादी (अनासक्तिपूर्वक कर्म करने वाले) (व्यक्तियों) की बुद्धिया अन्तरहित बहुत भेदवाली (होती हैं) ।
8. विषयों तथा वैभव में आसक्त और उस आसक्ति के कारण वशीभूत व्यक्तियों की बुद्धि (अस्थिर होती है) । (इसलिए) (उनके द्वारा) साधना-मार्ग में स्थिरतामयी (बुद्धि) धारण नहीं की जाती हैं ।
9. तेरा कर्म में ही अधिकार (है); (कर्मों के) फलों में (तेरा अधिकार) कभी नहीं है; (इसलिए) (तू) कर्मों के (स्वार्थपूर्णा) फल द्वारा प्रेरित होने वाला मत (हो); तेरा कर्म न करने में (भी) अनुराग न होवे ।

10. योगस्थः कुरु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा धनंजय ।
सिद्धयसिद्धयोः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते ॥

11. बुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृतदुष्कृते ।
तस्माद्योगाय युज्यस्व योगः कर्मसु कौशलम् ॥

12. कर्मजं बुद्धियुक्ता हि फलं त्यक्त्वा मनीषिणः ।
जन्मबन्धविनिर्मुक्ताः पदं गच्छन्त्यनामयम् ॥

13. स्थितप्रज्ञस्य का भाषा समाधिस्थस्य केशव ।
स्थितधीः किं प्रभाषेत किमासीत ब्रजेत किम् ॥

14. प्रजहाति यदा कामान्सर्वान्पार्थ मनोगतान् ।
आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते ॥

10. हे अर्जुन ! आसक्ति को छोड़कर (तथा) सफलता और असफलता में तटस्थ (समान) होकर (और) (इस तरह से) योग (समता) में विद्यमान (रहकर) कर्मों को कर । (सचमुच) समता (तनाव-मुक्तता) (ही) योग कहा जाता है ।
11. (तनाव-मुक्त) बुद्धिसहित (व्यक्ति) (तनाव उत्पन्न करने वाले) दोनों सुकर्म और दुष्कर्म को इस लोक में (ही) छोड़ देता है । इसलिए (तू) योग (समता/तनाव-मुक्तता) के लिए (अपने को) तैयार कर । (समझ) कर्मों को करने में कुशलता ही योग (समतापूर्वक कर्मों को करना) (है) ।
12. निश्चय ही (तनाव-मुक्त) बुद्धिसहित प्रज्ञावान् मनुष्य (जो) जन्म-(मरण) के बन्धन से मुक्त (हैं) कर्मों से उत्पन्न फल (फल में आसक्ति) को छोड़कर स्वस्थ (समतामयी) स्थिति को प्राप्त करते हैं ।
13. हे कृष्ण ! समाधि (समतामयी अवस्था) में ठहरनेवाले तथा तनाव-मुक्त/समतामय/स्थिर बुद्धिवाले मनुष्य (स्थितप्रज्ञ) की क्या परिभाषा है ? (जिसकी) बुद्धि स्थिर (हो जायेगी) (वह) कैसे बोलेगा ? कैसे बैठेगा ? (तथा) कैसे चलेगा ?
14. हे अर्जुन ! जब (व्यक्ति) मन में स्थित समस्त इच्छाओं को त्याग देता है (तथा) आत्मा से ही आत्मा में तृप्त होता है, तब (वह) तनाव-मुक्त / स्थिर / समतामयी / बुद्धिवाला (स्थितप्रज्ञ) कहा जाता है ।

- 15 दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः ।
वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते ॥
- 16 यः सर्वत्रानभिस्वेहस्तत्तत्प्राप्य शुभाशुभम् ।
नाभिनन्दति न द्वेष्टि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥
- 17 यदा संहरते चायं कूर्मोऽङ्गानीव सर्वशः ।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥
- 18 विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः ।
रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते ॥
- 19 तानि सर्वाणि संयम्य युक्त आसीत मत्परः ।
वशे हि यस्येन्द्रियाणि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥
- 20 ध्यायतो विषयान्पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते ।
सङ्गात्संजायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते ॥

15. (जिसका) मन दुःखों में शोकरहित (है), (तथा) (जिसकी) सुखों में लालसा नष्ट हो गई (है), (जिसका) राग, भय और क्रोध बिदा हो गया (है), (वह) मुनि स्थिर/समतामयी/तनाव-मुक्त बुद्धिवाला कहा जाता है ।
16. जो (व्यक्ति) सदैव आसक्तिरहित (होता है) (तथा) भिन्न-भिन्न इष्ट-अनिष्ट-(वस्तु)-समूह को पा करके न (उसको) चाहता है और न (उससे) घृणा करता है, उसकी बुद्धि स्थिर/समतामयी/तनाव-मुक्त (होती है) ।
17. (और) यह (व्यक्ति) जब इन्द्रियों को पूरी तरह से इन्द्रियों के विषयों से (रोकता है), जैसे कछुवा (सब ओर से) (अपने) अंगों को पीछे खींच लेता है, (तब) उसकी बुद्धि स्थिर/समतामयी/तनाव-मुक्त (होती है) ।
18. (ऐसा होता है) कि विषयोंरूपी आहार का त्याग करने वाले मनुष्य के (केवल) इन्द्रिय-विषय रुक जाते हैं, (किन्तु) स्वाद/रस नहीं; (परन्तु) परमात्मा का अनुभव करके इस समतामय (व्यक्ति) का स्वाद/रस भी समाप्त हो जाता है ।
19. उन सभी (इन्द्रियों) को रोक करके कुशल (व्यक्ति) मेरे (परमात्मा) में लीन होवे; क्योंकि जिसकी इन्द्रियाँ नियन्त्रण में (होती हैं), उसकी बुद्धि स्थिर/समतामयी/तनाव-मुक्त (होती है) ।
20. विषयों का चिन्तन करते हुए पुरुष के (मन में) उन (विषयों) के प्रति आसक्ति पैदा हो जाती है; आसक्ति से (विषयों की) कामना पैदा होती है; (विषयों की) कामना से क्रोध पैदा होता है ।

21 क्रोधाद्भवति संमोहः संमोहात्स्मृतिविभ्रमः ।
स्मृतिभ्रंशाद्बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति ॥

22 या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी ।
यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः ॥

23 विहाय कामान्यः सर्वान्पुमांश्चरति निःस्पृहः ।
निर्ममो निरहंकारः स शान्तिमधिगच्छति ॥

24 लोकेऽस्मिन्ह्यविधां निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयानघ ।
ज्ञानयोगेन सांख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम् ॥

25 न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत् ।
कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः ॥

21. क्रोध से व्याकुलता उत्पन्न होती है; व्याकुलता से (हेय-उपादेय के) चिन्तन में अव्यवस्था (होती है); चिन्तन के क्षीण होने से (नैतिक-आध्यात्मिक मूल्यों की) समझ का नाश (होता है) तथा समझ के नाश होने से (जीवन का सार ही) नष्ट हो जाता है ।
22. (सामान्यतया) सब मनुष्यों के (जीवन में) जो रात्रि (विस्मृत आध्यात्मिक स्थिति) (है), उस (आध्यात्मिक स्थिति) के प्रति संयमी (व्यक्ति) (सदैव) जागता (सक्रिय) रहता है । जिस (इन्द्रिय-सुख) में मनुष्य जागते (सक्रिय) रहते हैं, (परमात्मा को) देखते हुए जानी के (जीवन में) वह (इन्द्रिय-सुख) रात्रि (निरर्थक) होता/होती है ।
23. जो पुरुष समस्त कामनाओं को छोड़कर आसक्तिरहित, अहंकाररहित तथा सन्तुष्ट (होकर) व्यवहार करता है, वह शान्ति को प्राप्त करता है ।
24. हे निष्कलंक (अर्जुन) ! इस लोक में दो प्रकार की (उच्चतम) अवस्था मेरे द्वारा पहले कही गई है; (दिव्य) ज्ञानियों की (उच्चतम अवस्था) ज्ञानयोग से (कही गई है) और (अनासक्त) योगियों की (उच्चतम अवस्था) कर्मयोग से (कही गई है) ।
25. निस्सन्देह कोई (भी) व्यक्ति एक क्षण के लिए भी किसी समय कर्म को न करनेवाला नहीं रहता है, क्योंकि प्रकृति से उत्पन्न गुणों (सत्व, रज और तम) के द्वारा कर्म कराये जाते हैं । (इसलिए) सभी (व्यक्ति) पराश्रित हैं ।

- 26 यस्त्विन्द्रियाणि मनसा नियम्यारभतेऽर्जुन ।
कर्मेन्द्रियैः कर्मयोगमसक्तः स विशिष्यते ॥
- 27 यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः ।
आत्मन्येव च संतुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते ॥
- 28 नैव तस्य कृतेनार्थो नाकृतेनेह कश्चन ।
न चास्य सर्वभूतेषु कश्चिदर्थव्यपाश्रयः ॥
- 29 तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर ।
असक्तो ह्याचरन्कर्म परमाप्नोति पूरुषः ॥
- 30 कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः ।
लोकसंग्रहमेवापि संपश्यन्कर्तुमर्हसि ॥
- 31 यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः ।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते ॥

26. और हे अर्जुन ! जो (व्यक्ति) मन से इन्द्रियों को रोक करके अनासक्त (रहते हुए) कर्मेन्द्रियों द्वारा कर्म-मार्ग में प्रवृत्ति करता है, वह (कर्मेन्द्रियों को रोकने वाले की अपेक्षा) ऊँचे दर्जे का होता है है ।
27. परन्तु जो मनुष्य आत्मा में (ही) तृप्त हो तथा (जिसकी) आत्मा में ही प्रीति हो और जो आत्मा में ही संतुष्ट (हो) (इस लोक में) उसका (कोई) कर्तव्य विद्यमान नहीं (होता है) ।
28. उस (आत्मा में सन्तुष्ट व्यक्ति) का इस लोक में (उसके द्वारा) (कार्य) किए जाने से (तथा) (कार्य) न किए जाने से भी कोई प्रयोजन नहीं है । निस्सन्देह इसका किसी भी प्राणी में कोई स्वार्थपूर्ण प्रयोजन नहीं (है) ।
29. इसलिए (तू) अनासक्त (होकर) करने योग्य कार्य को लगातार पूरी तरह से कर, क्योंकि कर्म को करता हुआ अनासक्त मनुष्य परमात्मा को प्राप्त कर लेता है ।
30. जनकादि ने (आसक्तिरहित) कर्म के द्वारा ही (जगत् का) खूब कल्याण किया । इसलिए केवल लोक-कल्याण को देखता हुआ भी, (यदि) (तू) कर्म करने के लिए प्रसन्न होता है, (तो) (श्रेष्ठ) (है) ।
31. श्रेष्ठ (व्यक्ति) जो जो आचरण करता है, सामान्य व्यक्ति भी उस-उसका ही (आचरण करता है) । वह (श्रेष्ठ) (व्यक्ति) (आचरण के) जिस आदर्श को प्रस्तुत करता है, लोग उसका ही अनुसरण करते हैं ।

- 32 न मे पार्थास्ति कर्तव्यं त्रिषु लोकेषु किञ्चन ।
नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त एव च कर्मणि ॥
- 33 यदि ह्यहं न वर्तेयं जातु कर्मण्यतन्द्रितः ।
मम वर्तमानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः ॥
- 34 सक्ताः कर्मण्यविद्वांसो यथा कुर्वन्ति भारत ।
कुर्याद्विद्वांस्तथासक्तश्चिकीर्षुर्लोकसंग्रहम् ॥
- 35 न बुद्धिभेदं जनयेदज्ञानां कर्मसङ्गिनाम् ।
जोषयेत्सर्वकर्माणि विद्वान्युक्तः समाचरन् ॥
- 36 प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः ।
अहंकारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते ॥
- 37 तत्त्ववित्तु महाबाहो गुणकर्मविभागयोः ।
गुणा गुणेषु वर्तन्त इति मत्वा न सज्जते ॥
- 38 प्रकृतेर्गुणसंभूदाः सज्जन्ते गुणकर्मसु ।
तानकृत्स्नविदो मन्दान्कृत्स्नविन्न विद्यासयेत् ।

32. हे अर्जुन ! यद्यपि मेरे (परमात्मानुभवो के) लिए तीनों लोकों में कुछ भी कर्तव्य नहीं है (तथा) (जो) (वस्तु) प्राप्त की जानी चाहिए (वह) अप्राप्त नहीं (है), (तथापि) (मैं) कर्म में ही डटा रहता हूँ ।
33. यदि मैं जागरूक (होकर) किसी (भी) समय कर्म में ही न डटा रहूँ, (तो) हे अर्जुन ! सर्वत्र मनुष्य मेरे (ही) आचरण-क्रम का अनुसरण करेंगे ।
34. हे अर्जुन ! जैसे कर्म में आसक्त अज्ञानी (व्यक्ति) (कर्म) करते हैं, वैसे ही अनासक्त ज्ञानी लोक-कल्याण को करने की इच्छावाला (होकर) (कर्म) करे ।
35. ज्ञानी (व्यक्ति) कर्मों में आसक्त अज्ञानियों की बुद्धि में विकार उत्पन्न न करे । परमात्मा में लीन योगी (अनासक्त) (व्यक्ति) सब कर्मों का (स्वयं) भली-भांति आचरण करता हुआ (दूसरों को भी) (उनका) अभ्यास करावे ।
36. (सच तो यह है कि) सर्वत्र प्रकृति के गुणों द्वारा कर्म किए जाते हुए (होते हैं) । (तो भी) अहंकार से मोहित व्यक्ति इस प्रकार मान लेता है (कि) मैं (ही) (उनका) करनेवाला हूँ ।
37. किन्तु हे अर्जुन ! गुण और कर्म के (आत्मा से) भेद को यथार्थ से जाननेवाला इस प्रकार मानकर कि गुण गुणों में ही घटित होते रहते हैं, उनमें आसक्त नहीं होता है ।
38. प्रकृति के गुणों से मोहित (व्यक्ति) गुण और कर्मों में आसक्त होते हैं । उन अपूर्ण जानकार मूर्खों को पूर्ण जानकार (व्यक्ति) (कर्म न करके) न भटकाए ।

- 39 इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्यः परं मनः ।
मनसस्तु परा बुद्धिर्यो बुद्धेः परतस्तु सः ॥
- 40 किं कर्म किमकर्मेति कवयोऽप्यत्र मोहिताः ।
तत्ते कर्म प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वा मोक्षयसेऽशुभात् ॥
- 41 कर्मणो ह्यपि बोद्धव्यं बोद्धव्यं च विकर्मणः ।
अकर्मणश्च बोद्धव्यं गहना कर्मणो गतिः ॥
- 42 कर्मण्यकर्म यः पश्येदकर्मणि च कर्म यः ।
स बुद्धिमान्मनुष्येषु स युक्तः कृत्स्नकर्मकृत् ॥
- 43 यस्य सर्वे समारम्भाः कामसंकल्पवर्जिताः ।
ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं तमाहुः पण्डितं बुधाः ॥
- 44 त्यक्त्वा कर्मफलासङ्गं नित्यतृप्तो निराश्रयः ।
कर्मण्यभिप्रवृत्तोऽपि नैव किञ्चित्करोति सः ॥
- 45 निराशीर्यतचित्तात्मा त्यक्तसर्वपरिग्रहः ।
शारीरं केवलं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम् ॥

39. (ज्ञानी) कहते हैं कि इन्द्रियाँ (शरीर से) उच्चतर (हैं); मन इन्द्रियों से उच्चतर (है); और (वे कहते हैं कि) बुद्धि मन से उच्चतर (है); तथा बुद्धि से परे वह (आत्मा) (है) ।
40. कर्म क्या है ? (और) अकर्म क्या है ? बुद्धिमान् व्यक्ति भी इस संबंध में चकराया हुआ (रहता है) । (मैं) तेरे लिए उस कर्म को कहूँगा जिसको जानकर (तू) अशुभ से छूट जायेगा ।
41. कर्म का (लक्षण) समझा जाना चाहिए और विकर्म का (लक्षण) भी समझा जाना चाहिए तथा अकर्म का (लक्षण) (भी) समझा जाना चाहिए क्योंकि कर्म का मार्ग रहस्यपूर्ण (है) ।
42. जो कर्म में अकर्म को देखे और जो अकर्म में कर्म को (देखे), वह मनुष्यों में बुद्धिमान् (है), योगी (है) (तथा) वह ही सम्पूर्ण कर्मों का कर्ता (है) ।
43. जिसके सभी कर्म आसक्ति से (उत्पन्न) फल की आशा से रहित हैं, (जिसने) कर्मों (की आसक्ति) को ज्ञानरूपी अग्नि द्वारा जला दिया है, उसको विद्वान् योगी कहते हैं ।
44. कर्म-फल में आसक्ति को छोड़कर (जो) सदैव (आत्मा में) तृप्त है और (तृप्ति के लिए) किसी पर निर्भर नहीं (है), वह कर्म में लगा हुआ भी कुछ भी नहीं करता है ।
45. (फल की) कामनारहित पुरुष (जिसके द्वारा) मन और शरीर वश में किए गए (हैं), (तथा) (जिसके द्वारा) सब वस्तुएँ छोड़ दी गई (हैं) केवल दैहिक कर्म को करता हुआ (भी) पाप को प्राप्त नहीं करता है ।

46 यद्दृच्छालाभसंतुष्टो द्वन्द्वातीतो विमत्सरः ।
समः सिद्धावसिद्धौ च कृत्वापि न निबध्यते ॥

47 यथैषांसि समिद्धोऽग्निभस्मसात्कुरुतेऽर्जुन ।
ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा ॥

48 न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते ।
तत्स्वयं योगसंसिद्धः कालेनात्मनि विन्दति ॥

49 श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः ।
ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति ॥

50 अज्ञश्चाश्रद्धानश्च संशयात्मा विनश्यति ।
नायं लोकोऽस्ति न परो न सुखं संशयात्मनः ॥

46. (जो) संयोगवश लाभ से संतुष्ट (है) (जो) दो विरोधी (हर्ष-शोक आदि) अवस्थाओं से परे जानेवाला (है), (जो) ईर्ष्या से मुक्त (है), तथा (जो) सफलता और असफलता में तटस्थ (समान) (है), (वह) (व्यक्ति) (कर्मों को) करके भी नहीं बाँधा जाता है ।
47. हे अर्जुन ! जैसे प्रज्वलित अग्नि लकड़ियों को राखरूप कर देती है, वैसे ही ज्ञानरूपी अग्नि सब कर्मों (आसक्तियों) को नष्ट कर देती है ।
48. निस्सन्देह इस लोक में (दिव्य) ज्ञान के समान (कुछ भी) पवित्र नहीं है; (जिसके द्वारा) योग-साधना पूर्णतः ग्रहण की गई (है), (वह) (व्यक्ति) आत्मा में उस (ज्ञान) को अपने आप समय पर अनुभव कर लेता है ।
49. श्रद्धालु, उसमें (परमात्मा में) संलग्न (तथा) इन्द्रिय-निग्रही (व्यक्ति) ही (दिव्य) ज्ञान को प्राप्त करता है । (दिव्य) ज्ञान को प्राप्त करके (वह) अनुपम शान्ति को तुरन्त ही अनुभव कर लेता है ।
50. अज्ञानी और अश्रद्धालु तथा संशय करनेवाला (व्यक्ति) नष्ट हो जाता है । (उनमें से) संशय करनेवाले (व्यक्ति) के (जीवन में) सुख नहीं (रहता है), न यह लोक (उपयोगी) रहता है (और) न (ही) पर (लोक) (फलदायक) (होता है) ।

51 योगसंन्यस्तकर्माणं ज्ञानसंछिन्नसंशयम् ।
आत्मवन्तं न कर्माणि निबध्नन्ति धनञ्जय ॥

52 संन्यासः कर्मयोगश्च निःश्रेयसकरावुभौ ।
तयोस्तु कर्मसंन्यासात्कर्मयोगो विशिष्यते ॥

53 सांख्ययोगी पृथग्बालाः प्रवदन्ति न पण्डिताः ।
एकमप्यास्थितः सम्यग्भयोर्विन्दते फलम् ॥

54 यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते ।
एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति ॥

51. हे अर्जुन ! उस आत्मानुभवी व्यक्ति को (जिसने) योग-साधन से (समस्त) कर्मासक्ति को त्याग दिया है तथा (जिसने) समस्त संशय को ज्ञान द्वारा छिन्न-भिन्न कर दिया (है), (उसको) (लोक-कल्याण के लिए किए गए) कर्म नहीं बाँधते हैं ।
52. (आत्मानुभव के पश्चात्) कर्मों का त्याग और अनासक्ति-पूर्वक कर्म-करना, दोनों (ही) मुक्ति प्रदान करनेवाले हैं, तो भी उनमें कर्मों के त्याग से अनासक्तिपूर्वक कर्म-करना अच्छा समझा जाता है ।
53. अज्ञानी (व्यक्ति) सांख्य (दिव्यज्ञान/कर्मों का त्याग) और योग(अनासक्तिपूर्वक कर्म-करने) को भिन्न कहते हैं, (किन्तु) बुद्धिमान (व्यक्ति) (उनको) (अन्तरंगरूप से) (भिन्न) नहीं (कहते हैं) । (वास्तव में) एक को भी पूर्णतः धारण किया हुआ (मनुष्य) दोनों के (दिव्य) प्रयोजन को प्राप्त कर लेता है ।
54. जो (उच्चतम) अवस्था सांख्य (दिव्य ज्ञान/कर्मों के त्याग) के द्वारा प्राप्त की जाती है, वह (ही) योग (अनासक्तिपूर्वक कर्म-करने) के द्वारा भी पहुँची जाती है । (अतः) जो (व्यक्ति) सांख्य (दिव्यज्ञान/कर्मों के त्याग) और योग (अनासक्तिपूर्वक कर्म-करने) को एक देखता है, वह (दिव्य दृष्टि से) देखता है ।

55 ब्रह्मण्याधाय कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा करोति यः ।
लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा ॥

56 युक्तः कर्मफलं त्यक्त्वा शान्तिमाप्नोति नैष्ठिकीम् ।
अयुक्तः कामकारेण फले सक्तो निबध्यते ॥

57 सर्वकर्माणि मनसा संन्यस्यास्ते सुखं वशी ।
नवद्वारे पुरे देही नैव कुर्वन्न कारयन् ॥

58 ज्ञानेन तु तदज्ञानं येषां नाशितमात्मनः ।
तेषामादित्यवज्ज्ञानं प्रकाशया तत्परम् ॥

59 तद्बुद्ध्यस्तदात्मानस्तन्निष्ठास्तत्परायणाः ।
गच्छन्त्यपुनरावृत्तिं ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः ॥

55. कर्मों को परमात्मा में समर्पित करके और (उनमें) आसक्ति को छोड़कर जो (व्यक्ति) (कर्मों को) करता है, वह (आसक्ति से उत्पन्न होने वाले) दोष से मलिन नहीं किया जाता है, जैसे कमल का पत्ता जल के द्वारा (मलिन नहीं किया जाता है) ।
56. योगी (आत्मानुभवी) कर्म-फलासक्ति को छोड़कर पूर्ण शांति को प्राप्त करता है, किन्तु साधारण जन (आसक्तिपूर्वक कर्म करने वाला) अपनी कामनाओं में लिप्त रहने के कारण फल में आसक्त (होता है)। (इसके फलस्वरूप) (वह) (मानसिक तनावों से) दुःखी किया जाता है ।
57. जितेन्द्रिय (व्यक्ति) सब कर्मों (कर्मों में फलासक्ति) को मन से छोड़कर प्रसन्नतापूर्वक रहता है । (और) (इस तरह से) (वह) व्यक्ति नौ द्वार वाले शरीर में (आसक्तिपूर्वक) न ही (कुछ) करता हुआ और न (ही) (कुछ) करवाता हुआ (रहता है) ।
58. आत्मा के ज्ञान से जिनका ब्रह्म अज्ञान नष्ट कर दिया गया (है), तो सूर्य के समान उनका ज्ञान उस उच्चतम (सत्ता) को प्रकाशित कर देता है ।
59. (जिनकी) उस (परमात्मा) में (ही) बुद्धि (है), (जिनका) उसमें ही मन (है), (जिनकी) उसमें (ही) श्रद्धा (है) (तथा) (जो) उसमें (ही) पूर्णतया लीन (हैं) (और) (जिनके) दोष ज्ञान द्वारा नष्ट कर दिए गए (हैं), (वे) फिर से संसार में न आने वाली अवस्था को प्राप्त कर लेते हैं ।

60 इहैव तेजितः सर्गा येषां साम्ये स्थितं मनः ।
निर्वोषं हि समं ब्रह्म तस्माद्ब्रह्मणि ते स्थिताः ॥

61 न प्रहृष्येत्प्रियं प्राप्य नोद्विजेत्प्राप्य चाप्रियम् ।
स्थिरबुद्धिरसंमूढो ब्रह्मविद्ब्रह्मणि स्थितः ॥

62 बाह्यस्पर्शेष्वसक्तात्मा विन्दत्यात्मनि यत्सुखम् ।
स ब्रह्मयोगयुक्तात्मा सुखमक्षयमश्नुते ॥

63 योऽन्तःसुखोऽन्तरारामस्तथान्तर्ज्योतिरेव यः ।
स योगी ब्रह्मनिर्वाणं ब्रह्मभूतोऽधिगच्छति ॥

64 लभन्ते ब्रह्मनिर्वाणमृषयः क्षीणकल्मषाः ।
द्विभ्रद्वंशा यतात्मानः सर्वभूतहिते रताः ॥

60. जिनका मन समता में स्थिर (है), उनके द्वारा इस लोक में ही आसक्ति जीत ली गई (है) । (और) ब्रह्म (भी) शुद्ध और समतावाला (है), इसलिए वे ब्रह्म में (ही) स्थिर (हैं) ।
61. (जो) निरासक्त और तनावमुक्त बुद्धिवाला (है), (वह) ब्रह्मज्ञानी ब्रह्म में स्थिर (रहेगा) । (अतः) (वह) प्रिय (वस्तु) को प्राप्त करके हर्षित नहीं होगा (और) अप्रिय (वस्तु) को प्राप्त करके दुःखी नहीं (होगा) ।
62. बाह्य विषयों में जो अनासक्त (है), वह व्यक्ति जिस सुख को आत्मा में प्राप्त करता है, (उस) विनाशरहित सुख को ब्रह्मयोग से युक्त व्यक्ति (भी) प्राप्त करता है ।
63. जो (व्यक्ति) आन्तरिक रूप से शान्त (है), (जिसमें) आन्तरिक रूप से प्रसन्नता (है) (और) जो आन्तरिक रूप से प्रकाश ही (है), वह योगी (है) (जो) परमात्मा में ठहरा हुआ परमात्मा में लीन अवस्था को प्राप्त करता है ।
64. (जिनके द्वारा) (सब) दोष नष्ट कर दिए गए (हैं), (जिनके द्वारा) (सब) संदेह समाप्त कर दिए गए (हैं), (जिनके द्वारा) मन वश में कर लिया गया (है) तथा (जो) सब प्राणियों के कल्याण में संलग्न (रहते हैं), (वे) ऋषि परमात्मा में लीन अवस्था को प्राप्त करते हैं ।

65 यं संन्यासमिति प्राहुर्योगं तं विद्धि पाण्डव ।
न ह्यसंन्यस्तसंकल्पो योगी भवति कश्चन ॥

66 यदा हि नेन्द्रियार्थेषु न कर्मस्वनुषज्जते ।
सर्वसंकल्पसंन्यासी योगारूढस्तदोच्यते ॥

67 उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत् ।
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः ॥

68 बन्धुरात्मात्मनस्तस्य येनात्मैवात्मना जितः ।
अनात्मनस्तु शत्रुत्वे वर्तेतात्मैव शत्रुवत् ॥

69 जितात्मनः प्रशान्तस्य परमात्मा समाहितः ।
शीतोष्णसुखदुःखेषु तथा मानावमानयोः ॥

70 ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा कूटस्थो विजितेन्द्रियः ।
युक्त इत्युच्यते योगी समलोष्ठाश्मकाञ्चनः ॥

65. हे अर्जुन ! जिसको (लोग) संन्यास (कर्मों से रहित आत्मानुभव की अवस्था) कहते हैं, उसको (ही) (तू) योग (कर्म-फलासक्ति से रहित आत्मानुभव की अवस्था) जान, क्योंकि (जिसके द्वारा) कर्मफल की आशा नहीं त्यागी गई (है), (ऐसा) कोई भी (व्यक्ति) योगी नहीं होता है ।
66. जब भी (कोई) न (तो) इन्द्रियों के विषयों में और न (ही) कर्मों में आसक्त होता है, तब सब (कर्म) फल की आशा का त्याग करनेवाला (वह) (व्यक्ति) योगारूढ़ कहा जाता है ।
67. स्वयं के द्वारा स्वयं का उद्धार करना चाहिए । (स्वयं के द्वारा) स्वयं को बर्बाद नहीं करना चाहिए, क्योंकि स्वयं ही स्वयं का बन्धु (है) (और) स्वयं ही स्वयं का दुश्मन (है) ।
68. जिस व्यक्ति के द्वारा मन ही जीत लिया गया (है), उस व्यक्ति का मन ही (उसका) बन्धु (होगा), किन्तु (असंयमित) मन ही शत्रु के समान असंयमित व्यक्ति की शत्रुता में चलेगा ।
69. (चूँकि) जितेन्द्रिय और शांत (व्यक्ति) के (अनुभव में) परमात्मा स्थापित (होता है), (इसलिए) (वह) शीत-उष्ण (तथा) सुख-दुःख में एवं मान (और) अपमान में (समतायुक्त होता है) ।
70. (जो) व्यक्ति आध्यात्मिक अनुभव और लौकिक ज्ञान से तृप्त (है), (जो) सर्वोच्च अनुभव पर स्थित (है) (जो) जितेन्द्रिय (है) (और) (जिसके लिए) ढेला, (कीमती) पत्थर और सोने से बनी हुई वस्तु समान (है), (वह) योगी (परमात्मा में) लीन कहा जाता है ।

71 सुहृन्मित्रार्युं दासीनमध्यस्थद्वेष्यबन्धुषु ।
साधुष्वपि च पापेषु समबुद्धिर्विशिष्यते ॥

72 योगी युञ्जीत सततमात्मानं रहसि स्थितः ।
एकाकी यतचित्तात्मा निराशीरपरिग्रहः ॥

73 समं कायशिरोग्रीवं धारयन्नचलं स्थिरः ।
संप्रेक्ष्य नासिकाग्रं स्वं दिशश्चानवलोकयन् ॥

74 प्रशान्तात्मा विगतभोर्ब्रह्मचारिव्रते स्थितः ।
मनः संयम्य मच्चित्तो युक्त आसीत मत्परः ॥

75 नात्यश्नतस्तु योगोऽस्ति न चैकान्तमनश्नतः ।
न चातिस्वप्नशीलस्य जाग्रतो नैव चार्जुन ॥

76 युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु ।
युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा ॥

71. (जिस व्यक्ति के मन में) स्नेही, मित्र तथा दुश्मन में, निष्क्रिय तथा सक्रिय में, घृणित तथा संबंधी में, सज्जन तथा दुष्ट में भी समतायुक्त भाव (है), (वह) श्रेष्ठ होता है ।
72. (जो) योगी अकेला (स्वतन्त्र) (है), जो चाह और परिग्रह से रहित (है), (जिसके द्वारा) मन और शरीर जोत लिए गए (हैं), (वह) एकान्तवास में स्थित (होकर) निरन्तर आत्मा को (परमात्मा में) लगाए ।
73. (जो) व्यक्ति योगी (होना चाहता है) (वह) निर्भय ब्रह्मचारी की जीवन-चर्या में स्थित (रहे), तथा स्वस्थचित्त
74. (रहे), (वह) मन को नियन्त्रित करके शरीर, सिर और गर्दन को एक ही साथ व्यवस्थित रूप से रखता हुआ दृढ़ (रहे) और दिशाओं (इधर-उधर) को न देखता हुआ अपनी नाक के अग्रभाग को देखकर मेरे में लीन तथा मेरे में मन लगाया हुआ रहे ।
75. हे अर्जुन ! योग (साधना) न तो बहुत खानेवाले (व्यक्ति) के घटित होता/होती है और न ही बिल्कुल न खानेवाले (व्यक्ति) के (घटित होता/होती है), न ही बहुत निद्रालु (व्यक्ति) के तथा न ही (बहुत)जागनेवाले (व्यक्ति) के (घटित होता/होती है) ।
76. (जिसका) आहार और विहार (भ्रमण) उपयुक्त (है), (जिसका) (सद्कार्यों में) प्रयत्न उपयुक्त (है), (जिसकी) निद्रा और (जिसका) जागरण उपयुक्त है, (उस) (व्यक्ति के) (जीवन में) (योग घटित होता है), (जो) दुःखों का नाशक (होता है) ।

77 यदा विनियतं चित्तमात्मन्येवावतिष्ठते ।
निःस्पृहः सर्वकामेभ्यो युक्त इत्युच्यते तदा ॥

78 यथा दीपो निवातस्थो नेङ्गते सोपमा स्मृता ।
योगिनो यतचित्तस्य युञ्जतो योगमात्मनः ॥

79 यत्रोपरमते चित्तं निरुद्धं योगसेवया ।
यत्र चैवात्मनात्मानं पश्यन्नात्मनि तुष्यति ॥

80 सुखमात्यन्तिकं यत्तद्बुद्धिप्राह्ममतीन्द्रियम् ।
वेत्ति यत्र न चैवायं स्थितश्चलति तत्त्वतः ॥

81 यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः ।
यस्मिन्स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते ॥

77. जब नियन्त्रित चित्त आत्मा में ही टिकता है (तथा) (व्यक्ति) सभी इच्छाओं से रहित (होता है), तब परमात्मा में लीन कहा जाता है ।
78. जैसे वायु से सुरक्षित स्थान में विद्यमान दीपक हिलता-डुलता नहीं है, वही समानता आत्मा के ध्यान को लगाते हुए योगी के नियन्त्रित चित्त की कही गई है ।
79. जहाँ (आत्मा के ध्यान में) योग के अभ्यास से नियन्त्रित चित्त शान्त हो जाता है और जहाँ व्यक्ति आत्मा के द्वारा आत्मा को देखता हुआ आत्मा में ही तृप्त हो जाता है, (उस) (योग नाम वाली अवस्था को जानना चाहिए) ।
80. जो सुख अतीन्द्रिय (होता है), वह स्थायी (होता है) और प्रज्ञा द्वारा समझने योग्य (होता है), (ध्यान में) स्थित यह (योगी) (जब अतीन्द्रिय सुख को) अनुभव कर लेता है, (तो) (वह) वास्तविकता (सत्य) से बिल्कुल ही विचलित नहीं होता है ।
81. जिस (अवस्था) को प्राप्त करके (जब) (व्यक्ति) दूसरे (किसी भी) लाभ को उस (अवस्था) से अधिक (ग्रहणीय) नहीं मानता है और जिस (अवस्था) में स्थित व्यक्ति अत्यधिक दुःख के द्वारा भी (जब) विचलित नहीं किया जाता है, (तो) (व्यक्ति की वह अवस्था योग (आत्मानुभव) की अवस्था कही जाती है) ।

82 तं विद्याद्दुःखसंयोगवियोगं योगसंज्ञितम् ।
स निश्चयेन योक्तव्यो योगोऽनिर्विण्णचेतसा ॥

83 संकल्पप्रभवान्कामास्त्यक्त्वा सर्वानशेषतः ।
मनसैवेन्द्रियग्रामं विनियम्य समन्ततः ॥

84 शनैः शनैरुपरमेद्बुद्ध्या धृतिगृहीतया ।
आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किञ्चिदपि चिन्तयेत् ॥

85 यतो यतो निश्चरति मनश्चञ्चलमस्थिरम् ।
ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेत् ॥

86 युञ्जन्नेवं सदात्मानं योगी विगतकल्मषः ॥
सुखेन ब्रह्मसंस्पर्शमत्यन्तं सुखमश्नुते ॥

87 सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि ।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः ॥

82. उस दुःख-संयोग के अभाव को (तथा) (उस) योग नामवाली (अवस्था) को जानना चाहिए। वह योग खिन्नतारहित मन से निश्चितरूप से किया जाना चाहिए।
83. कर्म-फल की आशा से उत्पन्न होने वाली सभी इच्छाओं को पूर्णतया त्यागकर (तथा) मन के द्वारा ही इन्द्रिय-समूह को पूर्णतया नियन्त्रित करके, धैर्य को प्राप्त बुद्धि के द्वारा आत्मा में मन को स्थिर करके (व्यक्ति) धीरे-धीरे शान्त हो जाए (और) कुछ भी न विचारे।
84. जिस-जिस कारण से अस्थिर और चंचल मन बाहर की ओर जाता है, उस-उस जगह से (मन को) नियन्त्रित करके इस आत्मा में ही (उसे लगावे) (और) (उसे) जीत ले।
85. इस प्रकार पवित्र योगी निरन्तर आत्मा को (परमात्मा में) लगाता हुआ सरलतापूर्वक परमात्मा के प्रत्यक्ष ज्ञान को प्राप्त करता है (और) (उसके) (फलस्वरूप) अनन्त सुख का (अनुभव करता है)।
86. (जो) आत्मा को सब प्राणियों में स्थित देखता है तथा सब प्राणियों को आत्मा में (स्थित) (देखता है) (वह) आत्मानुभव से युक्त (व्यक्ति) हर समय (इसी प्रकार) समान रूप से देखने वाला (होता है)।
- 87.

88 सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थितः ।
सर्वथा वर्तमानोऽपि स योगी मयि वर्तते ॥

89 आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन ।
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः ॥

90 असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम् ।
अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च ब्रूहते ॥

91 असंयतात्मना योगो दुष्प्राप इति मे मतिः ।
वश्यात्मना तु यतता शक्योऽवाप्तुमुपायतः ॥

92 मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये ।
यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः ॥

93 त्रिभिर्गुणमयैर्भावैरेभिः सर्वमिदं जगत् ।
मोहितं नाभिजानाति मामेभ्यः परमव्ययम् ॥

88. जो (परमात्मा में) विश्वास करनेवाला (व्यक्ति) सब प्राणियों में स्थित मुझ एक (परमात्मा) को भजता है, वह योगी सब तरह से कर्तव्य निभाते हुए भी मेरे (परमात्मा) में टिका रहता है ।
89. हे अर्जुन ! जो स्व (अपनी आत्मा) के सादृश्य से प्रत्येक स्थान पर (सब प्राणियों में) समानता को देखता है और (उनके) सुख को या दुःख को (भी) (अपनी आत्मा के सादृश्य से) (देखता है), वह योगी श्रेष्ठ माना गया (है) ।
90. हे महाबाहु ! निश्चय ही (यह) मन चंचल (है) (तथा) कठिनाई से संयमित किया जानेवाला (है), किन्तु हे कौन्तेय ! अभ्यास और वैराग्य से (इसे) नियन्त्रित किया जाता है ।
91. असंयमी व्यक्ति के द्वारा योग अप्राप्य (होता है) । इस प्रकार मेरा विश्वास है । किन्तु प्रयत्न करते हुए संयमी व्यक्ति के द्वारा ही (योग प्राप्य है), चूँकि (उचित) प्रयत्न से ही (उसको) प्राप्त करना संभव (होता है) ।
92. मनुष्यों की बहुत बड़ी संख्या में से कुछ (मनुष्य) (ही) शुद्धता के लिए प्रयत्न करते हैं; (शुद्धता के लिए) प्रयत्न करते हुए सफल (व्यक्तियों) में कुछ (मनुष्य) (ही) मुझ (परमात्मा) को वस्तुतः जानते हैं ।
93. इन तीन गुणों (सत्त्व, रज और तम) से युक्त भावों के द्वारा (ही) यह सम्पूर्ण जगत् मोहित (है) । इन (गुणों) से परे मुझ शाश्वत (त्रिगुणातीत) को (यह जगत्) नहीं जानता है ।

- 94 देवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया ।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते ॥
- 95 न मां दुष्कृतिनो मूढाः प्रपद्यन्ते नराधमाः ।
माययापहतज्ञाना आसुरं भावमाश्रिताः ॥
- 96 चतुर्विधा भजन्ते मा जनाः सुकृतिनोऽर्जुन ।
आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ ॥
- 97 तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिविशिष्यते ।
प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः ॥
- 98 बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते ।
वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः ॥
- 99 येषां त्वन्तगतं पापं जनानां पुण्यकर्मणाम् ॥
ते द्वन्द्वमोहनिर्मुक्ता भजन्ते मां दृढव्रताः ॥

94. निश्चय ही त्रिगुणयुक्त यह शक्ति कठिनाई से जीती जाने वाली मेरी माया (है)। जो व्यक्ति मुझ को ही पहुँचते हैं, वे इस माया को जीत लेते हैं।
95. दुराचारी, अज्ञानी, बहुत बुरे मनुष्य, दानवी भाव को अनुसरण किए हुए (व्यक्ति तथा (वे व्यक्ति) (जिनकी) समझ माया द्वारा हर ली गई है, (मुझको नहीं पहुँचते हैं)।
96. हे भरत-क्षेत्र में श्रेष्ठ, हे अर्जुन ! सद्कर्म करनेवाले— दुःखी, ज्ञान का इच्छुक, धन का इच्छुक और (आत्म) ज्ञानी—ये चार प्रकार के मनुष्य मेरी आराधना करते हैं।
97. उनमें (आत्म)-ज्ञानी (जो) (मेरे में) सदा लीन (होता है) (तथा) (मेरे में) (जिसकी) भक्ति अद्वितीय (है), (वह) दूसरों से ऊँचे दर्जे का होता है। निश्चय ही मैं (परमात्मा) आत्मज्ञानी का अत्यन्त प्रिय (रहता हूँ) और वह (आत्मज्ञानी) (भी) मेरा (परमात्मा का) प्रिय (होता है)।
98. बहुत जन्मों की समाप्ति पर ज्ञानी मुझको पहुँचते हैं। समस्त (जगत्) कृष्णरूप (परमात्म-स्वरूप) है। इस प्रकार (अनुभव करनेवाला) वह श्रेष्ठ (व्यक्ति) अत्यन्त विरल (होता है)।
99. परन्तु जिन शुभ कर्मों को करनेवाले मनुष्यों के दोष नाश को प्राप्त हुए (हैं) (तथा) (जिनके) शुभ-संकल्प दृढ़ (हैं), वे (सुख-दुःखादि की) विरोधी अवस्थाओं से (उत्पन्न) व्याकुलता से रहित (व्यक्ति) मेरी आराधना करते हैं।

100 जरामरणमोक्षाय मामाश्रित्य यतन्ति ये ।
ते ब्रह्म तद्विदुः कृत्स्नमध्यात्मं कर्म चाखिलम् ॥

101 अन्तकाले च मामेव स्मरन्मुक्त्वा कलेवरम् ।
यः प्रयाति स मद्भावं याति नास्त्यत्र संशयः ॥

102 यं यं वापि स्मरन्भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम् ।
तं तमेवंति कौन्तेय सदा तद्भावंभावितः ॥

103 अम्यासयोगयुक्तेन चेतसा नान्यगामिना ।
परमं पुरुषं दिव्यं याति पार्थानुचिन्तयन् ॥

104 प्रयाणकाले मनसाचलेन
भक्त्या युक्तो योगबलेन चैव ।
भ्रुवोर्मध्ये प्राणमावेश्य सम्य-
क्स तं परं पुरुषमुपैति दिव्यम् ॥

00. बुढ़ापे और मृत्यु से छुटकारे के लिए जो मेरा अनुगमन करके प्रयत्न करते हैं, वे उस परमात्मा को, आत्मा से संबंध रखनेवाली समस्त (बातों) को तथा सभी (करने योग्य) कर्म को जान लेते हैं ।
01. और मृत्यु के समय में मेरे (परमात्मा) को ही स्मरण करता हुआ जो (जीव) शरीर को छोड़कर (संसार) से विदा होता है, वह मेरी (परमात्मा की) अवस्था को प्राप्त कर लेता है । इसमें (कोई) संदेह नहीं है ।
- 102 हे कौन्तेय ! और जिस-जिस भुकाव को मन में रखता हुआ (कोई भी व्यक्ति) (जीवन के) अन्त में शरीर को छोड़ता है, उस भुकाव के अनुरूप परिवर्तित हुआ (वह) उस-उस (अवस्था) को सदैव प्राप्त करता है ।
103. हे अर्जुन ! (परमात्मा पर निरन्तर) ध्यान के अभ्यास सहित (तथा) एकाग्र चित्त के द्वारा ध्यान करता हुआ (व्यक्ति) उच्चतम दिव्य आत्मा को प्राप्त करता है ।
104. (जो) भक्ति से युक्त (व्यक्ति) संसार से विदा होने के समय स्थिर मन से तथा भक्ति-शक्ति से प्राण को दोनों भीहों के मध्य में ही पूरी तरह से नियन्त्रित करके (रहता है), वह उस उच्चतम दिव्य परमात्मा को ही पहुँचता है ।

- 105 सर्वद्वाराणि संयम्य मनो हृदि निरुध्य च ।
मूर्ध्न्याघायात्मनः प्राणमास्थितो योगधारणाम् ॥
- 106 श्रोमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन्मामनुस्मरन् ।
यः प्रयाति त्यजन्देहं स याति परमां गतिम् ॥३॥
- 107 मामुपेत्य पुनर्जन्म दुःखालयमशाश्वतम् ।
नाप्नुवन्ति महात्मानः संसिद्धिं परमां गताः ॥
- 108 पुरुषः स परः पार्थ भक्त्या लभ्यस्त्वनन्यया ।
यस्यान्तःस्थानि भूतानि येन सर्वमिदं ततम् ॥
- 109 अश्रद्धानाः पुरुषा धर्मस्यास्य परंतप ।
अप्राप्य मां निवर्तन्ते मृत्युसंसारवर्त्मनि ॥
- 110 सततं कोर्तयन्तो मां यतन्तश्च दृढव्रताः ।
नमस्यन्तश्च मां भक्त्या नित्ययुक्ता उपासते ॥

105. (मरण-काल के निकट जाने पर) ध्यान में दृढ़ता को लिये
106. हुए (जो व्यक्ति) शरीर के सब द्वारों का नियन्त्रण करके और मन को आत्मा में रोककर ललाट पर प्राण को स्थिर करके (रहता है) (तथा) जो शरीर को छोड़ते हुए ब्रह्मरूपी एकाक्षरीय ओम् शब्द का उच्चारण करते हुए (तथा) मुझको (परमात्मा को) स्मरण करते हुए संसार से विद्धा होता है, वह सर्वोच्च अवस्था को प्राप्त कर लेता है ।
107. सर्वोत्तम सिद्धि को प्राप्त हुए महात्मा मुझ को प्राप्त करके अनित्य तथा दुःख के स्थान पुनर्जन्म को प्राप्त नहीं करते हैं ।
108. हे अर्जुन ! जिसके अन्दर (सब) प्राणी स्थित (हैं) जिसके द्वारा यह सब (जगत्) पैदा किया गया है, वह उच्चतम आत्मा है और (वह) एकाग्र भक्ति से प्राप्त होने योग्य (होता है) ।
109. हे शूरवीर ! इस धर्म में अश्रद्धा करते हुए व्यक्ति मुझको प्राप्त न करके मरण और जन्म-परम्परा के पथ पर लौटते हैं ।
110. दृढ़ संकल्पवाले (तथा) निरन्तर दत्तचित्त (व्यक्ति) सदा मेरी स्तुति करते हुए और (मेरे लिए) उत्कंठित होते हुए और (मुझे) भक्तिपूर्वक प्रणाम करते हुए मेरी उपासना करते हैं ।

- 111 ज्ञानयज्ञेन चाप्यन्ये यजन्तो मामुपासते ।
एकत्वेन पृथक्त्वेन बहुधा विश्वतोमुखम् ॥
- 112 अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते ।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम् ॥
- 113 पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति ।
तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः ॥
- 114 यत्करोषि यदश्नासि यञ्जुहोषि ददासि यत् ।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम् ॥
- 115 शुभाशुभफलैरेवं मोक्षयसे कर्मबन्धनैः ।
संन्यासयोगयुक्तात्मा विमुक्तो मामुपैष्यति ॥
- 116 समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेषोऽस्ति न प्रियः ।
ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम् ॥

111. ज्ञानरूपी यज्ञ के द्वारा पूजा करते हुए (कुछ लोग) अद्वैतता से चारों ओर मुख (किए हुए) मुझको उपासते हैं, दूसरे भेदता से और (कई) बहुत प्रकार से भी (उपासते हैं) ।
112. जो मनुष्य (मेरा) ध्यान करते हुए (मेरे में) एकाग्र (हैं), (वे) मेरी उपासना करते हैं । उन (मेरे में) निरन्तर दत्तचित्तों के कल्याण की मैं देखभाल करता हूँ ।
113. जो (व्यक्ति) मेरे लिए फूल की पत्ती, फूल, फल (एवं) जल को भक्तिपूर्वक अर्पण करता है, (तो) (उस) संयमी व्यक्ति की भक्ति से अर्पित उस (वस्तु) का मैं उपभोग करता हूँ ।
114. हे अर्जुन ! (तू) जो करता है, जो खाता है, हवन करता है, जो दान करता है (और) जो तपस्या करता है, (तू) उसको मेरे अर्पण कर ।
115. इस प्रकार (तू) शुभ-अशुभ फल से (तथा) कर्म-बन्धन से छूट जायेगा । (और) (बन्धन से) मुक्त व्यक्ति जो अर्पण-साधना से युक्त (है), मुझे प्राप्त कर लेगा ।
116. मैं सब प्राणियों में समता-युक्त (हूँ); मेरे लिए न (कोई) घृणित है (और) न (कोई) प्रिय । परन्तु जो मेरी भक्ति-पूर्वक उपासना करते हैं, वे मेरे में (रहते हैं) और मैं भी उनमें (रहता हूँ)

- 117 अपि चेतसुदुराचारो भजते मामनन्यभाक् ।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः ॥
- 118 क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति ।
कौन्तेय प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति ॥
- 119 मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु ।
मामेवैष्यसि युक्त्वैवमात्मानं मत्परायणः ॥
- 120 अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः ।
अहमादिश्च मध्यं च भूतानामन्त एव च ॥
- 121 मन्यसे यदि तच्छक्यं मया द्रष्टुमिति प्रभो ।
योगेश्वर ततो मे त्वं दर्शयात्मानमव्ययम् ॥
- 122 न तु मां शक्यसे द्रष्टुमनेनैव स्वचक्षुषा ।
द्विभ्यं ददामि ते चक्षुः पश्य मे योगमेश्वरम् ॥

117. (मेरे में) एकमात्र (अविभक्त) भक्तिवाला (कोई) अत्यधिक दुष्ट (व्यक्ति) भी यदि मेरी उपासना करता है, (तो) वह भद्र पुरुष ही समझा जाना चाहिए, क्योंकि वह उचित रूप से निर्णय किया हुआ (है) ।
118. हे कौन्तेय ! (वह) शीघ्र (ही) सद्गुणी हो जाता है और नित्य शान्ति को प्राप्त करता है । (तुम) (इस बात को) समझो (कि) मेरा भक्त बर्बाद नहीं होता है ।
119. (तू) मेरे में रुचिवाला हा, (तू) मेरा आराधक (हो), (तू) मेरी पूजा करनेवाला (हो), (तू) मुझे प्रणाम कर । इस प्रकार (तू) मेरी भक्तिवाला (होकर) आत्मा को (मेरे में) लगाकर मुझे (ही) प्राप्त कर लेगा ।
120. हे अर्जुन ! मैं सब प्राणियों के हृदय में स्थित आत्मा (हूँ) । मैं संसार का आदि, मध्य और अन्त हूँ ।
121. हे प्रभु ! यदि आप इस प्रकार मानते हैं (कि) मेरे द्वारा वह (आत्म-स्वरूप) देखा जाना संभव (है), (तो) हे योगेश्वर ! आप मेरे लिए (उस) अविनाशी आत्मा को दिखलाइये ।
122. परन्तु (तू) मुझे अपनी वर्तमान आँख से देखने को समर्थ ही नहीं है, (इसलिए) (मैं) तेरे लिए दिव्य नेत्र प्रदान करता हूँ । (उससे) (तू) मेरी दिव्य सम्पत्ति को देख ।

123 द्विवि सूर्यसहस्रस्य भवेद्युगपदुत्थिता ।
यदि भाः सदृशी सा स्याद्भासस्तस्य महात्मनः ॥

124 त्वमक्षरं परमं वेदितव्यं
त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम् ।
त्वमव्ययः शाश्वतधर्मगोप्ता
सनातनस्त्वं पुरुषो मतो मे ॥

125 भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन ।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परंतप ॥

126 मत्कर्मकृन्मत्परमो मद्भूक्तः सङ्गर्वाजितः ।
निर्वैरः सर्वभूतेषु यः स मामेति पाण्डव ॥

127 एवं सततयुक्ता ये भक्तास्त्वां पर्युपासते ।
ये चाप्यक्षरमव्यक्तं तेषां के योगवित्तमाः ॥

128 मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते ।
श्रद्धया परयोपेतास्ते मे युक्ततमा मताः ॥

123. (परमात्मा के दिव्य स्वरूप को देखकर अर्जुन ने कहा) यदि आकाश में सूर्यों की बहुत बड़ी संख्या के द्वारा एक ही समय में उत्पन्न हुई आभा होवे, तो भी वह (आभा) उस परमात्मा की आभा के समान शायद (ही) (हो) ।
124. आप परम आत्मा माने जाने योग्य (हैं), आप इस विश्व के सर्वोत्तम आधार (हैं), आप शाश्वत मूल्यों के रक्षक (हैं), आप अविनाशी (हैं) तथा आप शाश्वत परमात्मा (हैं) । मेरे द्वारा (आप) इस प्रकार समझे गए (हैं) ।
125. परन्तु हे शूरवीर अर्जुन ! (मेरा) ऐसा (रूप) एकाग्र भक्ति से अनुभव किया और देखा जा सकता है तथा मैं वास्तव में पहुँचा जा (सकता हूँ) ।
126. हे अर्जुन ! (जो) मेरे में निष्ठावान् (है) जो मेरे लिए (ही) कर्मों का करनेवाला (है), जो मेरा आराधक (है), (जो) (फल में) आसक्ति से रहित (है) और (जो) सब प्राणियों में स्नेह-युक्त है, वह मुझ को प्राप्त करता है ।
127. इस प्रकार जो आराधक निरन्तर अपना ध्यान केन्द्रित किए हुए आपकी उपासना करते हैं और जो (आराधक) केवल शाश्वत (और) अव्यक्त की (उपासना करते हैं), उनमें से योग के उत्तम जानकार कौन हैं ?
128. जो (आराधक) मेरे में मन को नियन्त्रित करके श्रेष्ठ श्रद्धा से युक्त (होकर) निरन्तर अपना ध्यान केन्द्रित किए हुए मेरी उपासना करते हैं, वे मेरे द्वारा सर्वोत्तम योगी कहे गए हैं ।

129 ये त्वक्षरमनिर्देश्यमव्यक्तं पर्युपासते ।
सर्वत्रगमचिन्त्यं च कूटस्थमचलं ध्रुवम् ।
130 संनियम्येन्द्रियप्राप्तं सर्वत्र समबुद्धयः ।
ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः ॥

131 क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम् ।
अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं देहबद्धिरवाप्यते ॥

132 मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धि निवेशय ।
निवसिष्यसि मय्येव अत ऊर्ध्वं न संशयः ॥

133 अथ चित्तं समाधातुं न शक्नोषि मयि स्थिरम् ।
अभ्यासयोगेन ततो मामिच्छाप्तुं धनंजय ॥

134 अभ्यासेऽप्यसमर्थोऽसि मत्कर्मपरमो भव ।
मदर्थमपि कर्माणि कुर्वन्सिद्धिमवाप्स्यसि ॥

129. और जो इन्द्रिय-समूह को भली प्रकार से नियन्त्रित करके
130. (उस) अविनाशी, अवर्णनीय, अदृश्यमान, सर्वव्यापक, कल्पनातीत, अपरिवर्तनीय, गतिहीन और शाश्वत (परमात्मा) की उपासना करते हैं, (तथा) जो हर समय समतायुक्त बुद्धिवाले (होते हैं) (और) सब प्राणियों के कल्याण में संलग्न (रहते हैं), वे (भी) मुझे ही प्राप्त करते हैं ।
131. अदृश्यमान (की साधना) में लगे हुए उन चिन्तनशील उपासकों के (मन में) दूसरे (दृश्य की उपासना करने वालों) की अपेक्षा बहुत कष्ट (होता है), क्योंकि मनुष्यों द्वारा अव्यक्त (उपासना का) पथ कठिनाई से पकड़ा जाता है ।
132. (तू) मेरे में ही मन को जमा, (मेरे में) (ही) बुद्धि को लगा, इसके पश्चात् (तू) मेरे में ही निवास करेगा । (इसमें) (कोई) संशय नहीं है ।
133. हे अर्जुन ! यदि (तू) श्रद्धालु चित्त को मेरे में एकाग्र नहीं कर सकता है, तो अभ्यास विधि से मुझे प्राप्त करने की इच्छा कर ।
134. (यदि) (तू) अभ्यास (करने) में भी सक्षम नहीं है, (तो) मेरे लिए कर्म करने में श्रेष्ठ हो, क्योंकि मेरे लिए कर्मों को करता हुआ भी (तू) पूर्णता को प्राप्त कर लेगा ।

135 अथैतदप्यशक्ताऽसि कर्तुं मद्योगमाश्रितः ।
सर्वकर्मफलत्यागं ततः कुरु यतात्मवान् ॥

136 अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च ।
निर्ममो निरहंकारः समदुःखसुखः क्षमी ॥

137 संतुष्टः सततं योगी यतात्मा दृढनिश्चयः ।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्यो मद्भक्तः स मे प्रियः ॥

138 यस्मान्नोद्विजते लोको लोकान्नोद्विजते च यः ।
हर्षामिर्षभयोद्वेगैर्मुक्तो यः स च मे प्रियः ॥

139 अनपेक्षः शुचिर्दक्ष उदासीनो गतव्यथः ।
सर्वारम्भपरित्यागी यो मद्भक्तः स मे प्रियः ॥

140 यो न हृष्यति न द्वेष्टि न शोचति न काङ्क्षति ।
शुभाशुभपरित्यागी भक्तिमान्यः स मे प्रियः ॥

135. यदि इसको भी करने के लिए (तू) सक्षम नहीं है, तो मेरी भक्ति का अभ्यास करते हुए संयत और शान्त (होकर) सब कर्मों के फल में (आसक्ति का) त्याग कर ।
136. मेरे में केन्द्रित मन और बुद्धिवाला मेरा भक्त (जो) सब
137. प्राणियों के लिए ही सौहार्दपूर्ण (है), करुणायुक्त (है) और (उनमें) घृणा करनेवाला नहीं (है); जो ममतारहित, अहंकाररहित, क्षमावान्, (और) सुख-दुःख में समता-युक्त (है) (तथा) (जो) प्रसन्न (है), सदा भक्ति करनेवाला (है), स्वसंयत (है) (और) दृढ़ संकल्पवाला (है), वह (भक्त) मेरे लिए प्रिय (है) ।
138. जिससे (कोई भी) प्राणी भयभीत नहीं होता है, जो कामना, ईर्ष्यायुक्त क्रोध, भय और चित्त की अस्थिरता से रहित है, वह मेरे लिए प्रिय है ।
139. जो इच्छारहित (है), निष्पक्ष (है), सद्गुणी और कुशल (है), दुःख से मुक्त (है) (और) (जो) समस्त हिंसा का त्यागी (है), वह मेरा आराधक मेरे लिए प्रिय (है) ।
140. जो हर्षोन्मत्त नहीं होता है, (जो) घृणा नहीं करता है, (जो) शोक नहीं करता है, (जो) चाहना नहीं करता है, (और) (जो) शुभ-अशुभ (फल की आसक्ति) का त्यागी है, वह आराधक मेरे लिए प्रिय (है) ।

- 141 समः शत्रौ च मित्रे च तथा मानावमानयोः ।
शीतोष्णसुखदुःखेषु समः सङ्गविवाजितः ॥
- 142 तुल्यनिन्दास्तुतिर्मौनी संतुष्टो येन केनचित् ।
अनिकेतः स्थिरमतिर्भक्तिमान्मे प्रियो नरः ॥
- 143 अमानित्वमदम्भित्वमहिंसा क्षान्तिराजंघम् ।
आचार्योपासनं शौचं स्थैर्यमात्मविनिग्रहः ॥
- 144 इन्द्रियार्थेषु वैराग्यमनहंकार एव च ।
जन्ममृत्युजराव्याधिदुःखदोषानुदर्शनम् ॥
- 145 असक्तिरनभिष्वङ्गः पुत्रदारगृहादिषु ।
नित्यं च समचित्तत्वमिष्टानिष्टोपपत्तिषु ॥
- 146 मयि चानन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणी ।
विविक्तिदेशसेवित्वमरतिर्जनसंसदि ॥
- 147 अध्यात्मज्ञाननित्यत्वं तत्त्वज्ञानार्थदर्शनम् ।
एतज्ज्ञानमिति प्रोक्तमज्ञानं यदतोऽन्यथा ॥

141. (जो) शत्रु और मित्र में तथा मान और अपमान में
 142. समतायुक्त (है), (जो) शीत और उष्ण (स्पर्शों) में (तथा) सुख और दुःख में समतायुक्त (है), (जो) आसक्ति-रहित (है), (जिसके लिए) निन्दा और प्रशंसा समान (है) (और) (उनमें) (जो) मौन रखनेवाला (है), (जो) जिस किसी (भी वस्तु की प्राप्ति) से संतुष्ट (है), (जो) घर-रहित (है) और स्थिर बुद्धिवाला (है), (वह) (मेरी) आराधना करनेवाला मनुष्य मेरे लिए (प्रिय) है ।

143. (जहाँ) विनम्रता, निष्कपटता, अहिंसा, धर्म, सरलता
 144. (और) आध्यात्मिक गुरु की सेवा (है); (जहाँ) निर्मलता, मन
 145. को दृढता, और स्वसंयम है, (जहाँ) इन्द्रियों के विषयों में वैराग्य
 146. (है), (जहाँ) अहंकार का अभाव (है), तथा (जहाँ) जन्म-
 47. मरण-बुडापा-रोग (से उत्पन्न) दुःखों की बुराई को देखना भी (है), (जहाँ) अनासक्ति, पुत्र-पत्नी-गृह आदि में सम्बन्ध का अभाव (है), और (जहाँ) इष्ट-अनिष्ट प्राप्तियों में सदैव समतायुक्त चित्तता (है), (जहाँ) मेरे में एकाग्र विधि से एकनिष्ठ भक्ति (है), (जहाँ) एकाकी स्थान में रहना (है) (और) (जहाँ) मनुष्यों की भाँड़ में (रहते हुए) बैचैनी (है), (जहाँ) आध्यात्मिक ज्ञान की निरन्तरता (है) (तथा) (जहाँ) तत्त्वज्ञान के प्रयोजन की समझ (है), (वहाँ) यह (सब) ज्ञान ही कहा गया (है) (और) इसलिए जो इसके विपरीत (है); वह अज्ञान (कहा गया) है ।

- 148 ध्यानेनात्मनि पश्यन्ति केचिदात्मानमात्मना ।
अन्ये सांख्येन योगेन कर्मयोगेन चापरे ॥
- 149 अन्ये त्वेवमजानन्तः श्रुत्वान्येभ्य उपासते ।
तेऽपि चातितरन्त्येव मृत्युं श्रुतिपरायणाः ॥
- 150 सत्त्वं रजस्तम इति गुणाः प्रकृतिसंभवाः ।
निबध्नन्ति महाबाहो देहे देहिनमव्ययम् ॥
- 151 सर्वद्वारेषु देहेऽस्मिन्प्रकाश उपजायते ।
ज्ञानं यदा तदा विद्याद्विवृद्धं सत्त्वमित्युत ॥
- 152 लोभः प्रवृत्तिरारम्भः कर्मणामशमः स्पृहा ।
रजस्येतानि जायन्ते विवृद्धे भरतर्षभ ॥
- 153 अप्रकाशोऽप्रवृत्तिश्च प्रमादो मोह एव च ।
तमस्येतानि जायन्ते विवृद्धे कुरुनन्दन ॥

148. कुछ लोग परमात्मा को आत्मा के द्वारा ध्यान के साधन से आत्मा में अनुभव करते हैं; दूसरे (कुछ लोग) दिव्यज्ञान रूपी विधि से और दूसरे (कुछ लोग) (अनासक्तिपूर्वक) कर्म करने की विधि से (परमात्मा का अनुभव करते हैं) ।
149. किन्तु दूसरे (कुछ लोग) जो इस प्रकार न समझते हुए (रहते हैं), (वे) दूसरे (अनुयायियों) से (परमात्मा के विषय में) सुनकर उपासना करते हैं; और निस्सन्देह वे सुनने पर आश्रित (होकर) भी मृत्यु को जीत लेते हैं ।
150. हे महाबाहु ! गुण-सत्त्व, रज और तम-(ये सब) प्रकृति से उत्पन्न (होते हैं) । (वे) अविनाशी आत्मा को शरीर में बाँधते हैं ।
151. जब कभी इस देह में (और) (इसके) सब द्वारों में प्रकाश और आध्यात्मिक ज्ञान उत्पन्न होता है, (तो) (समझो कि) सत्त्व बढ़ा हुआ (है) । (इसे) इस तरह (ही) पहचानना चाहिए ।
152. हे भरत क्षेत्र में श्रेष्ठ ! रजोगुण के बढ़े हुए होने पर लोभ, (घोर) सांसारिक जीवन, कर्मों के (लिए) हिंसा, मानसिक अशान्ति, (विषयों में) लालसा - (ये) उत्पन्न होते हैं ।
153. हे अर्जुन ! तमोगुण के बढ़े हुए होने पर आध्यात्मिक अन्धकार, और आलस्ययुक्त आचरण, (महत्वपूर्ण कार्यों की) अवहेलना तथा आसक्ति-(ये) उत्पन्न होते हैं ।

154 नान्यं गुणेभ्यः कर्तारं यदा द्रष्टानुपश्यति ।
गुणेभ्यश्च परं वेत्ति मद्भावं सोऽधिगच्छति ॥

155 गुणानेतानतीत्य त्रीन्देही देहसमुद्भवान् ।
जन्ममृत्युजरादुःखैर्विमुक्तोऽमृतमश्नुते ॥

156 समदुःखसुखः स्वस्थः समलोष्ठाश्मकाञ्चनः ।
तुल्यप्रियाप्रियो धीरस्तुल्यनिन्दात्मसंस्तुतिः ॥

157 मानावमानयोस्तुल्यस्तुल्यो मित्रारिपक्षयोः ।
सर्वारम्भपरित्यागी गुणातीतः स उच्यते ॥

158 मां च योऽव्यभिचारेण भक्तिप्रोगेन सेवते ।
स गुणान्समतीत्यैतान्ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥

159 यतन्तो योगिनश्चैनं पश्यन्त्यात्मन्यवस्थितम् ।
यतन्तोऽप्यकृतात्मानो नैनं पश्यन्त्यचेतसः ॥

154. जब द्रष्टा गुणों से अन्य (किसी) को कर्ता नहीं देखता है और गुणों से भिन्न (आत्मा) को अनुभव कर लेता है, तो वह मेरे स्वभाव (परमात्मा) को प्राप्त कर लेता है ।
155. देह के साथ जन्म लेता हुआ आत्मा इन तीनों गुणों के परे जाकर जन्म, मरण और बुढ़ापे के दुःखों से रहित (हो जाता है) (तथा) अमरता (परमात्मा) को प्राप्त कर लेता है ।
156. (जो) आत्मा में स्थित (है), (जिसके लिए) सुख-दुःख समान
157. (हैं), (जो) अपनी निन्दा-प्रशंसा में समतायुक्त (है), (जिसके लिए) इष्ट-अनिष्ट (वस्तुएँ) समान श्रेणी की (होती हैं), (जो) प्रशान्त (है), (जिसके लिए) मिट्टी का ढेला, (कीमती) पत्थर और सोना समरूप (हैं), (जो) मान-अपमान में संतुलित (होता है), (जो) शत्रु और मित्र के विषय में एक सा (रहता है) तथा (जो) सब प्रकार की हिंसा का त्यागी (होता है), वह (इन) तीन गुणों (सत्त्व, रज और तम) से परे कहा जाता है ।
158. और (जो) एकनिष्ठ भक्ति-विधि से मुझको उपासता है (वह) इन गुणों के पूर्णतः परे जाकर ब्रह्म हो जाने के लिए योग्य होता है ।
159. प्रयत्न करते हुए साधक ही आत्मा में विद्यमान इस (परमात्मा) को अनुभव करते हैं; (किन्तु) असंयमी (और) अज्ञानी (व्यक्ति) प्रयत्न करते हुए भी इसको अनुभव नहीं कर पाते हैं ।

- 160 अमयं सत्त्वसंशुद्धिर्ज्ञानयोगव्यवस्थितिः ।
दानं दमश्च यज्ञश्च स्वाध्यायस्तप आर्जवं ॥
- 161 अहिंसा सत्यमक्रोधस्त्यागः शान्तिरपेशुनम् ।
दया भूतेष्वलोलुप्त्वं मार्दवं ह्रीरचापलम् ॥
- 162 तेजः क्षमा धृतिः शौचमद्रोहो नातिमानिता ।
भवन्ति संपदं देवीमभिजातस्य भारत ॥
- 163 दम्भो दर्पोऽतिमानश्च क्रोधः पारुष्यमेव च ।
अज्ञानं चाभिजातस्य पार्थ संपदमासुरोम् ॥
- 164 देवी संपद्विमोक्षाय निबन्धायासुरी मता ।
मा शुचः संपदं देवोमभिजातोऽसि पाण्डव ॥
- 165 प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च जना न विदुरासुराः ।
न शौचं नापि चाचारो न सत्यं तेषु विद्यते ॥
- 166 काममाश्रित्य दुष्पूरं दम्भमानमदान्विताः ।
मोहाद्गृहीत्वासद्ग्राहान्प्रवर्तन्तेऽशुचिद्यताः ॥

160. हे अर्जुन ! भय का अभाव, स्वभाव की पवित्रता, अध्यात्म
161. ज्ञान की प्राप्ति में दृढता, दानशीलता, आत्म-संयम, पूजा-
162. भक्ति, स्वाध्याय, तपस्या, सरलता, अहिंसा, सत्य, क्रोध का
अभाव, त्यागशीलता, शान्ति, चुगली का अभाव, प्राणीमात्र
के प्रति दया, लालसा का अभाव, उदारता, विनय, चंचलता
का अभाव, आत्मबल, क्षमा, धैर्य, ईमानदारी, द्वेषरहितता,
अति अहंकारिता का न होना-(ये) (गुण) दैवी संपदा को
प्राप्त किए हुए (व्यक्ति) के होते हैं ।
163. हे अर्जुन ! जालसाजी, उदण्डता और अहंकार, क्रोध और
निर्दयता तथा आध्यात्मिक ना समझी-(ये) (सब) आसुरी
संपदा को प्राप्त किए हुए (व्यक्ति) के (दोष) (हैं) ।
164. हे अर्जुन ! दैवी संपदा मोक्ष (शान्ति) के लिए (तथा)
आसुरी (संपदा) बन्धन (अशान्ति) के लिए मानी गई (है),
(चूँकि) (तू) दैवी संपदा को प्राप्त किया हुआ (है,) (इस-
लिए) शोक मत (कर) ।
165. आसुरी (संपदावाले) लोगों ने (आध्यात्मिक मूल्यों में)
प्रवृत्ति को तथा (आसक्ति से) निवृत्ति को कभी नहीं जाना ।
उनमें न शुद्धि (होती है), न ही आचरण और न ही सत्य ।
166. (जिनके) संकल्प अपवित्र (हैं), (वे) कठिनाई से पूरी की
जानेवाली इच्छाओं का अनुगमन करके जालसाजी, घमण्ड
(तथा) कामुकता से युक्त (हो जाते हैं) । (और) (इस
तरह) (उनको) अज्ञान से ग्रहण करके मिथ्यात्व का स्वीकरण
करते हैं ।

167 चिन्तामपरिमेयां च प्रलयान्तामुपाश्रिताः ।
कामोपभोगपरमा एतावदिति निश्चिताः ॥

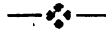
168 आशापाशशतैर्बद्धाः कामक्रोधपरायणाः ।
ईहन्ते कामभोगार्थमन्यायेनार्थसंचयान् ॥

169 इदमद्य मया लब्धमिदं प्राप्स्ये मनोरथम् ।
इदमस्तीदमपि मे भविष्यति पुनर्धनम् ॥

170 अनेकचित्तविभ्रान्ता मोहजालसमावृताः ।
प्रसक्ताः कामभोगेषु पतन्ति नरकेऽशुचौ ॥



167. (ऐसे व्यक्ति) मृत्यु तक असंख्य चिन्ताओं को पालते हुए (जीते हैं) तथा विषय-भोगों में पूर्णतः संलग्न (रहते हैं) । इस तरह (वे) (दुष्ट-संकल्पों में) इतने दृढ़ (होते हैं) (कि) (वे) (मृत्यु तक) (इसी प्रकार जोते हैं) ।
168. (ऐसे व्यक्ति) सैकड़ों आशारूपी बेड़ियों से बंधे हुए (रहते हैं), (वे) काम-क्रोध के वशीभूत होते हैं, काम-भोग के लिए अन्याय से (विभिन्न प्रकार के) धन-संग्रह को चाहते हैं ।
169. आज मेरे द्वारा यह (इच्छित वस्तु) प्राप्त की गई (है), (भविष्य में भी) (मैं) इच्छित वस्तु को प्राप्त करूँगा; यह धन मेरे लिए है; इसी प्रकार दुबारा भी (मेरे लिए) धन होगा ।
170. (जो) अनेक इच्छाओं से व्याकुल (हैं), मूर्छारूपी जाल से ढके हुए (हैं) (तथा) काम-भोगों में अनुरक्त (हैं), (वे) अपवित्र नरक में गिरते हैं ।



संकेत-सूची

(अ)	=	अव्यय (इसका अर्थ = लगाकर लिखा गया है)	शूक	=	भूतकालिक कृदन्त
अक	=	अकर्मक क्रिया	व	=	वर्तमानकाल
आज्ञा	=	आज्ञा	वकृ	=	वर्तमानकालिक कृदन्त
कर्म	=	कर्मवाच्य	वि	=	विशेषण
(क्विप्र)	=	क्रिया विशेषण अव्यय (इसका अर्थ = लगाकर लिखा गया है)	विधि	=	विधि
तुवि	=	तुलनात्मक विशेषण	विधिक्क	=	विधि कृदन्त
पु.	=	पुल्लिग	स	=	सर्वनाम
पूकृ	=	पूर्वकालिक कृदन्त	सक	=	सकर्मक क्रिया
प्रे	=	प्रेरणार्थक क्रिया	सवि	=	सर्वनाम विशेषण
भकृ	=	भविष्यत्कालिक कृदन्त	स्त्री	=	स्त्रीलिङ्ग
भवि	=	भविष्यत्काल	हेकृ	=	हेत्वर्थ कृदन्त
भाव	=	भाववाच्य	()	=	इस प्रकार के कोष्ठक में मूल शब्द रक्खा गया है।
भू	=	भूतकाल	[[() + () + () ...]]		
			इस प्रकार के कोष्ठक के अन्दर +		
			चिह्न किन्हीं शब्दों में सन्धि का द्योतक		
			है। यहाँ अन्दर के कोष्ठकों में श्लोक		
			के शब्द ही रख दिये गये हैं।		

[()-()-().....]

इस प्रकार के कोष्ठक के अन्दर '—'
चिह्न समास का द्योतक है।

[[()-()-().....]वि]

जहाँ समस्त पद विशेषण का
कार्य करता है, वहाँ इस प्रकार के
कोष्ठक का प्रयोग किया गया है।

जहाँ कोष्ठक के बाहर केवल
संख्या (जैसे 1/1, 1/2, 1/3.....
आदि) ही लिखी है, वहाँ कोष्ठक के
अन्दर का शब्द 'संज्ञा' है।

एकवचन द्विवचन बहुवचन

प्रथमा	1/1	1/2	1/3
द्वितीया	2/1	2/2	2/3
तृतीया	3/1	3/2	3/3
चतुर्थी	4/1	4/2	4/3
पंचमी	5/1	5/2	5/3
षष्ठी	6/1	6/2	6/3
सप्तमी	7/1	7/2	7/3
संज्ञोषण	8/1	8/2	8/3

एकवचन

द्विवचन

बहुवचन

उत्तमपुरुष	1/1 शक या सक	1/2 शक या सक	1/3 शक या सक
मध्यमपुरुष	2/1 शक या सक	2/2 शक या सक	2/3 शक या सक
तन्मपुरुष	3/1 शक या सक	3/2 शक या सक	3/3 शक या सक

व्याकरणिक विश्लेषण

1. देहिनोऽस्मिन्यथा [(देहिनः) + (अस्मिन्) + (यथा)] देहिनः (देहिन्) 6/1. अस्मिन् (इदम्) 7/1 सवि. यथा (अ) = जैसे. वेहे (देह) 7/1 कौमारं यौवनं जरा [(कौमारम्) + (यौवनम्) + (जरा)] कौमारम् (कौमार) 1/1. यौवनम् (यौवन) 1/1. जरा (जरा) 1/1. तथा (अ) = वैसे ही देहान्तरप्राप्तिर्घोरस्तत्र [(देह) + (अन्तर) + (प्राप्तिः) + (धीरः) + (तत्र)] [(देह) - (अन्तर)¹ - (प्राप्ति) 1/1] घोरः (धीर) 1/1 वि. तत्र (अ) = उसमें न (अ) = नहीं मुह्यति (मुह्) व 3/1 अक.
- 2 न (अ) = नहीं जायते (जन्) व 3/1 अक अजयते (मृ) व 3/1 अक वा (अ) = प्रौर कदाचिन्नायं भूत्वा [(कदाचित्) + (न) + (अयम्) + (भूत्वा)] कदाचित् (अ) = कभी. न (अ) = नहीं. अयम् (इदम्) 1/1 सवि. भूत्वा (भू) पूकृ. भविता (भवितृ) 1/1 वि. वा (अ) = तथा न (अ) = नहीं भूयः (अ) = नये रूप से अजो नित्यः [(अजः) + (नित्यः)] अजः (अज) 1/1 वि. नित्यः (नित्य) 1/1 वि. शाश्वतोऽयं पुराणो न [(शाश्वत) + (अयम्) + (पुराणः) + (न)] शाश्वतः (शाश्वत) 1/1 वि. अयम् (इदम्) 1/1 वि. न (अ) = नहीं हन्यते (हन्) वकर्म 3/1 सक हन्यमाने (हन् → हन्य → हन्यमान) वकृ कर्म 7/1 शरीरे (शरीर) 7/1
3. वासांसि (वासस्) 2/3 जीर्णानि (जीर्ण) 2/3 वि. यथा (अ) = जैसे विहाय (वि-हा) पूकृ नवानि (नव) 2/3 वि. गृह्णाति (ग्रह्) व 3/1 सक नरोऽपराणि [(नरः) + (अपराणि)] नरः (नर) 1/1. अपराणि (अपर) 2/3 वि. तथा (अ) = वैसे ही शरीराणि (शरीर) 2/3

1. 'दूसरा' अर्थ में 'अन्तर' सदैव समस्तपद का उतर पद रहता है ।

विहाय (वि-हा) पूकृ जीर्णान्यन्यानि [(जीर्णानि) + (अन्यानि)]
जीर्णानि (जीर्णं) 2/3 वि. अन्यानि (अन्य) 2/3 वि. संयाति
(सं-या) व 3/1 सक नवानि (नव) 2/3 वि. बेही (देहिन्) 1/1.

4. नैनं छिन्दन्ति [(न) + (एनम्) + (छिन्दन्ति)] न (अ) = नहीं. एनम्
(एन) 2/1 सवि. छिन्दन्ति (छिद्) व 3/3 सक शस्त्राणि (शस्त्र)
1/3 दहति (दह्) व 3/1 सक पावकः (पावक) 1/1 न (अ) =
नहीं चैनं क्लेदयन्त्यापो न [(च) + (एनम्) + (क्लेदयन्ति) +
(आपः) + (न)] च (अ) = तथा. एनम् (एन) 2/1 सवि. क्लेदयन्ति
(क्लिद् → क्लेदय्) व प्रे. 3/3 सक. आपः (अप्) 1/3. न (अ) = नहीं
प्रे.

शोषयति (शुष् → शोषय्) व प्रे. 3/1 सक मासतः (मासत) 1/1

5. एषा (एतत्) 1/1 सवि तेऽभिहिता] (ते) + (अभिहिता)] ते
स्त्री
(युष्मद्) 4/1 स. अभिहिता (अभि-धा → अभिहित → अभिहिता) भूकृ
1/1. सांख्ये (सांख्य) 7/1 बुद्धिर्योगे [(बुद्धिः) + (योगे)] बुद्धिः
(बुद्धि) 1/1. योगे (योग) 7/1 स्वमां शृणु [(तु) + (इमाम्) +
(शृणु)] तु (अ) = अब. इमाम् (इदम्) 2/1 सवि शृणु (शृ) आज्ञा
2/1 सक बुद्ध्या (बुद्धि) 3/1 युक्तो यया [(युक्तः) + (यया)]
युक्तः 1 (युज् → युक्त) भूकृ 1/1 यया (यत्) 3/1 स पार्श्वं (पार्श्वं) 8/1
कर्मबन्धं प्रहास्यसि [(कर्मबन्धम्) + (प्रहास्यसि)] कर्मबन्धम्
[(कर्म) - (बन्ध) 2/1] प्रहास्यसि (प्र-हा) भवि 2/1 सक.

6. नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति [(न) + (इह) + (अभिक्रम) + (नाशः) +
(अस्ति)] न (अ) = नहीं. इह (अ) = यहाँ. [(अभिक्रम) - (नाश)
1/1] अस्ति (अस्) व 3/1 अक प्रत्यवायो न [(प्रत्यवायः) + (न)]

1. समास में या करण के साथ अर्थ होता है : सहित, भरा हुआ आदि ।

प्रत्यवायः (प्रत्यवाय) 1/1. न (अ) = नहीं विद्यते (विद्) व 3/1
 अक स्वल्पमप्यस्य [(स्वल्पम्) + (अपि) + (अस्य)] स्वल्पम् (स्वल्प)
 1/1 वि. अपि (अ) = भी. अस्य (इदम्) 6/1 स धर्मस्य (धर्म) 6/1
 त्रायते (त्रै) व 3/1 सक महतो भयात् [(महतः) + (भयात्)]
 महतः (महत्) 5/1 वि. भयात् (भय) 5/1.

7. व्यवसायात्मिका [(व्यवसाय) + (आत्मिका)] [(व्यवसाय) - (आत्मक
 स्त्री

→ आत्मिका¹) 1/1 वि] बुद्धिरेकेह [(बुद्धिः) + (एका) + (इह)]

स्त्री

बुद्धिः (बुद्धि) 1/1. एका (एक → एका) 1/1 वि. इह (अ) = इस दशा
 में कुरुनन्दन (कुरुनन्दन) 8/1 बहुशाखा ह्यनन्ताश्च [(बहुशाखाः) +
 (हि) + (अनन्ताः) + (च)] बहुशाखाः (बहुशाखा) 1/3 वि. हि

स्त्री

(अ) = निस्संदेह. अनन्ताः (अनन्त → अनन्ता) 1/3 वि. च (अ) = तथा
 बुद्ध्योऽव्यवसायिनाम् [(बुद्ध्यः) + (अव्यवसायिनाम्)] बुद्ध्यः (बुद्धि)
 1/3. अव्यवसायिनाम् (अ-व्यवसायिन्) 6/3 वि.

8. भोगैश्वर्यप्रसक्तानां तयापहृतचेतसाम् [(भोग) + (ऐश्वर्य) + (प्रसक्ता-
 नाम्) + (तया) + (अपहृत) + (चेतसाम्)] [(भोग) - (ऐश्वर्य) -
 प्रसञ्ज् → प्र-सक्त) भूक् 6/3] तया (तत्) 3/1 स [(अपहृत)
 भूक् - (चेतस्) 6/3] व्यवसायात्मिका [(व्यवसाय) + (आत्मिका)]
 [(व्यवसाय) - (आत्मिका) 1/1 वि] बुद्धिः (बुद्धि) 1/1 समाधौ
 (समाधि) 7/1 न (अ) = नहीं विधीयते (वि-धा) व कर्म 3/1 सक.

स्त्री

1. 'आत्मक → आत्मिका' समास के अन्त में लगता है ।

9. कर्मण्येवाधिकारस्ते [(कर्मणि) + (एव) + (अधिकारः) + (ते)]
 कर्मणि (कर्मन्) 7/1. एव (अ) = ही. अधिकारः (अधिकार) 1/1.
 ते (युष्मद्) 6/1 स. मा (अ) = नहीं फलेषु (फल) 7/3 कदाचन
 (अ) = कभी मा (अ) = मत कर्मफलहेतुर्भूमि [(कर्मफल) + (हेतुः)
 + (भूः) + मा] [(कर्मफल) - (हेतु)¹ 1/1] (अ) भूः² (भू)
 भू 2/1 अक मा (अ) = न ते (युष्मद्) 6/1 स सङ्गोऽस्त्वकर्मणि
 [(सङ्गः) + (अस्तु) + (अकर्मणि)] सङ्गः (सङ्ग) 1/1. अस्तु (अस्)
 आज्ञा 3/1 अक. अकर्मणि (अ-कर्मन्) 7/1.

10. योगस्थः [(योग) - (स्थः) 1/1 वि] कुरु (कृ) आज्ञा 2/1 सक
 कर्माणि (कर्मन्) 2/3 सङ्गं त्यक्त्वा [(सङ्गम्) + (त्यक्त्वा)] सङ्गम्
 (सङ्ग) 2/1 त्यक्त्वा (त्यज्) पूकृ धनंजय (धनंजय) 8/1
 सिद्धयसिद्धयोः [(सिद्धि) + (असिद्धयोः)] [(सिद्धि) - (असिद्धि)
 7/2] समो भूत्वा [(समः) + (भूत्वा)] समः (सम) 1/1 वि
 भूत्वा (भू) पूकृ समत्वं योग उच्यते [(समत्वम्) + (योगः) +
 (उच्यते)] समत्वम् (समत्व) 1/1. योगः (योग) 1/1. उच्यते (ब्रू)
 व कर्म 3/1 सक.

11. बुद्धियुक्तो जहातीह [(बुद्धियुक्तः) + (जहाति) + (इह)] बुद्धियुक्तः
 (बुद्धि) - (युज् → युक्त⁴) भूकृ 1/1] जहाति (हा) व 3/1 सक. इह (अ) =

1. 'कर्मफलहेतु'—Impelled by (the expectation of) the consequences of any act (Monier Williams, Sans Eng. Dictionary P. 1303 col III)
2. 'मा' के योग में सामान्यभूत का 'अ' लुप्त हो जाता है। और आज्ञा अर्थ में प्रयुक्त होता है।
3. समास के अन्त में प्रयुक्त।
4. समास में या करण के साथ अर्थ होता है : सहित, भरा हुआ आदि।

इस लोक में उभे (उभ) 2/2 वि सुकृतबुद्धते [(सुकृत)-(दुष्कृत) 2/2] तस्माद्योगाय [(तस्मात्) + (योगाय)] तस्मात् (अ) = इसलिए. योगाय (योग) 4/1 युज्यस्व (युज्) आजा 2/1 सक योगः (योग) 1/1 कर्मसु (कर्मन्) 7/3 कौशलम् (कौशल 1/1.

12. कर्मजं (कर्मज) 2/1 वि बुद्धियुक्ता हि [(बुद्धियुक्ताः) + (हि)] बुद्धि-युक्ताः [(बुद्धि)-(युज्→युक्त) भूकृ 1/3] हि (अ) = निश्चय ही फलं त्यक्त्वा [(फलम्) + (त्यक्त्वा)] फलम् (फल) 2/1. त्यक्त्वा (त्यज्) पूकृ मनीषिणः (मनीषिन्) 1/3 जन्मबन्धविनिर्मुक्ताः [(जन्म)-(बन्ध)-(वि-निर्-मुच्→विनिर्-मुक्त) भूकृ 1/3] पद-गच्छन्त्यनामयम् [(पदम्) + (गच्छन्ति) + (अनामयम्)] पदम् (पद) 2/1. गच्छन्ति (गम्) व 3/3 सक. अनामयम् (अनामय) 2/1.

13. स्थितप्रज्ञस्य [(स्थित) भूकृ-(प्रज्ञ) 6/1 वि] का (किम्) 1/1 सवि भाषा (भाषा) 1/1 समाधिस्थस्य [(समाधि)-(स्थ) 6/1 वि] केशव (केशव) 8/1 स्थितधीः [[[स्थित) भूकृ-(धी) 1/1]]वि] किं प्रभाषेत¹ [(किम्) + (प्रभाषेत)] किम् (अ) = कैसे. प्रभाषेत (प्र-भाष्) विधि 3/1 सक. किमासीत् [(किम्) + (आसीत्)] किम् (अ) = कैसे. आसीत्¹ (आस्) विधि 3/1 अक व्रजेत्¹ (व्रज्) विधि 3/1 सक. किम् (अ) कैसे.

14. प्रजहाति (प्र-हा) व 3/1 सक यदा (अ) = जब. कामान्सर्वान्पार्थ [(कामान्) + (सर्वान्) + (पार्थ)] कामान् (काम) 2/3. सर्वान् (सर्व) 2/3 वि. पार्थ (पार्थ) 8/1 मनोगतान् (मनोगत) 2/3 वि आत्मन्येवात्मना [(आत्मनि) + (एव) + (आत्मना)] आत्मनि (आत्मन्) 7/1

1. भविष्यकाल की क्रिया की अभिव्यक्ति कभी-कभी विचलित् द्वारा भी होती है।
(आष्टे : संस्कृत निबन्ध-दक्षिणा, पृष्ठ 165)

एव(अ) = ही. अत्मना (आत्मन्) 3 / 1 तुष्टः (तुष् → तुष्ट) भूकृ 1 / 1 स्थितप्रज्ञ-
स्तदोच्यते [(स्थितप्रज्ञः) + (तदा) + (उच्यते)] स्थितप्रज्ञः [(स्थित)
भूकृ- (प्रज्ञ) 1 / 1 वि] तदा (अ) = तब. उच्यते (ब्रू) व कर्म 3 / 1 सक.

15. दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः [(दुःखेषु) + (अनुद्विग्नमनाः)] दुःखेषु (दुःख) 7 / 3.
अनुद्विग्नमनाः [[(अनुद्विग्न) भूकृ- (मनस्) 1 / 1] वि] सुखेषु (सुख) 7 / 3
विगतस्पृहः [[(विगत) भूकृ- (स्पृह) 1 / 1] वि] वीतरागभयक्रोधः
[[(वीत) भूकृ- (राग) - (भय) - (क्रोध) 1 / 1] वि] स्थितधीर्मुनिरुच्यते
[(स्थितधीः) + (मुनिः) + (उच्यते)] स्थितधीः (स्थितधी) 1 / 1 वि.
मुनिः (मुनि) 1 / 1. उच्यते (ब्रू) व कर्म 3 / 1 सक.

16. यः (यत्) 1 / 1 सवि सर्वत्रानभिस्नेहस्तत्तत्प्राप्य [(सर्वत्र) + (अनभि-
स्नेहः) + (तत्¹) + (तत्¹) + (प्राप्य)] सर्वत्र (अ) = सदैव. अनभि-
स्नेहः (अनभिस्नेह) 1 / 1 वि. तत्¹ (तत्) 2 / 1 सवि. तत्¹ (तत्) 2 / 1
सवि. प्राप्य (प्र-आप्) पूकृ शुभाशुभम् [(शुभ) + (अशुभम्)]
[(शुभ) वि- (अशुभ) 2 / 1 वि] नाभिनन्दति [(न) + (अभिनन्दति)]
न (अ) = नहीं. अभिनन्दति (अभि-नन्द) व 3 / 1 सक न (अ) = नहीं
द्वेष्टि (द्विष्) व 3 / 1 सक तस्य (तत्) 6 / 1 स प्रज्ञा (प्रज्ञा) 1 / 1
भूकृ स्त्री
प्रतिष्ठिता (प्रति-स्था → प्रतिष्ठित → प्रतिष्ठिता) भूकृ 1 / 1.

17. यदा (अ) = जब संहरते (सम्-हृ) व 3 / 1 सक चायं कूर्मोऽङ्गानीव
[(च) + (अयम्) + (कूर्मः) + (अङ्गानि) + (इव)] च (अ) = और.
अयम् (इदम्) 1 / 1 सवि. कूर्मः (कूर्म) 1 / 1. अङ्गानि (अङ्ग) 2 / 3.
इव (अ) = जैसे सर्वशः (अ) = पूरी तरह से इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य
[(इन्द्रियाणि) + (इन्द्रियार्थेभ्यः) + (तस्य)] इन्द्रियाणि (इन्द्रिय)

1. जब 'तत्' की प्राप्ति की जाए तो इसका अर्थ होता है 'भिन्न-भिन्न' ।

2/3. इन्द्रियार्थेभ्यः [(इन्द्रिय) + (अर्थेभ्यः)] [(इन्द्रिय)-(अर्थं)
5/3] तस्य (तत्) 6/1 स प्रज्ञा (प्रज्ञा) 1/1 प्रतिष्ठिता (प्रति-
भूक्त स्त्री
स्था→प्रतिष्ठित→प्रतिष्ठिता) भूक्त 1/1

18. विषया विनिवर्तन्ते [(विषयाः) + (विनिवर्तन्ते)] विषयाः (विषय)
1/3. विनिवर्तन्ते (विनि-वृत्) व 3/3 अक निराहारस्य (निराहार)
6/1 वि बेहिनः (देहिन्) 6/1 रसवर्जं रसोऽप्यस्य [(रसवर्जम्) +
(रसः) + (अपि) + (अस्य)] रसवर्जम् (अ) = स्वाद/रस नहीं. रसः
1/1. अपि (अ) = भी. अस्य (इदम्) 6/1 स परं हृद्वा [(परम्) +
हृद्वा] [(परम्) + (हृद्वा)] परम्(पर) 2/1 वि. हृद्वा (हृद्)
पूक्त निवर्तते (नि-वृत्) व 3/1 अक.

19. तानि (तत्) 2/3 सवि सर्वाणि (सर्वं) 2/3 वि संयम्य (सम्-यम्)
पूक्त युक्त आसीत् [(युक्तः) + (आसीत्)] युक्तः (युज्→युक्त) भूक्त
1/1. आसीत् (आस्) विधि 3/1 अक मत्परः 1 (मत्पर) 1/1 वि वशे
(वश) 7/1 हि (अ) = क्योंकि यस्येन्द्रियाणि. [(यस्य) + (इन्द्रि-
याणि)] यस्य (यत्) 6/1 स. इन्द्रियाणि (इन्द्रिय) 1/3 तस्य
भूक्त
(तत्) 6/1 स प्रज्ञा (प्रज्ञा) 1/1 प्रतिष्ठिता (प्रति-स्था→
स्त्री
प्रतिष्ठित→प्रतिष्ठिता) 1/1.

20. ध्यायतो विषयान्पुंसः [(ध्यायतः) + (विषयान्) + (पुंसः)] ध्यायतः
(ध्यै→ध्यायत्) वक्तु 6/1. विषयान् (विषय) 2/3. पुंसः (पुंस्) 6/1.

1. मत्परः = devoted to me (Monier Williams, P. 777 CollII)
मद् = उत्तमपुरुष सर्वनाम के एकवचन का रूप जो प्रायः समस्त शब्दों के
आरम्भ में प्रयुक्त होता है (भाष्ये, संस्कृत-हिन्दी कोष).

सङ्गस्तेषूपजायते [(सङ्गः) + (तेषु) + (उपजायते)] सङ्गः (सङ्ग) 1/1. तेषु(तत्) 7/2. उपजायते (उप-जन्) व 3/1 अक सङ्गात्संजायते [(सङ्गात्) + (संजायते)] सङ्गात् (सङ्ग) 5/1. संजायते(सम्-जन्) व 3/1 अक कामः (काम) 1/1 कामात्क्रोधोऽभिजायते [(कामात्) + (क्रोधः) + (अभिजायते)] कामात् (काम) 5/1. क्रोधः (क्रोध) 1/1. अभिजायते (अभि-जन्) व 3/1 अक.

21. क्रोधाद्भवति [(क्रोधात्) + (भवति)] क्रोधात् (क्रोध) 5/1. भवति (भू) व 3/1 अक संमोहः (संमोह) 1/1 संमोहात्स्मृतिविभ्रमः [(संमोहात्) + (स्मृतिविभ्रमः)] संमोहात् (संमोह) 5/1. स्मृतिविभ्रमः [(स्मृति)-(विभ्रम) 1/1] स्मृतिभ्रंशाद्बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति [(स्मृतिभ्रंशात्) + (बुद्धिनाशः) + (बुद्धिनाशात्) + (प्रणश्यति)] स्मृतिभ्रंशात् [(स्मृति)-(भ्रंश) 5/1] बुद्धिनाशः [(बुद्धि)-(नाश) 1/1] बुद्धिनाशात् [(बुद्धि)-(नाश) 5/1] प्रणश्यति (प्र-नश्) व 3/1 अक.

22. या (यत्) 1/1 सवि निशा (निशा) 1/1 सर्वभूतानां तस्यां जागति [(सर्वभूतानाम्) + (तस्याम्) + (जागति)] सर्वभूतानाम् [(सर्व) वि-(भूत) 6/3] तस्याम् (तत्) 7/1 स. जागति (जागृ) व 3/1 अक. संयमी (संयमिन्) 1/1 वि यस्यां जाग्रति [(यस्याम्) + (जाग्रति)] यस्याम् (यत्) 7/1 स. जाग्रति (जागृ) व 3/3 अक भूतानि (भूत) 1/3 सा (तत्) 1/1 सवि निशा (निशा) 1/1 पश्यतो मुनेः [(पश्यतः) + (मुने)] पश्यतः (इष्-पश्यत्) वक्त्र 6/1 मुनेः (मुनि) 6/1

23. विहाय (वि-हा) पूकृ कामान्यः [(कामान्) + (यः)] कामान्(काम) 2/3. यः (यत्) 1/1 सवि. सर्वान्पुमांश्चरति [(सर्वान्) + (पुमान्) + (चरति)] सर्वान् (सर्व) 2/3 वि. पुमान् (पुंस) 1/1. चरति (चर्)

व 3/1 अक निःस्पृहः (निःस्पृह) 1/1 वि निर्ममो निरहंकारः स
 शान्तिमधिगच्छति [(निर्ममः) + (निरहंकारः) + (मः) +
 (शान्तिम्) + (अधिगच्छति)] निर्ममः (निर्मम) 1/1 वि. निरहंकारः
 (निरहंकार) 1/1 वि. सः (तत्) 1/1 सवि. शान्तिम् (शान्ति) 2/1.
 अधिगच्छति (अधि-गम्) व 3/1 सक

24. लोकेऽस्मिन्द्विविधा [(लोके) + (अस्मिन्) + (द्विविधा)] लोके (लोक)
 7/1. अस्मिन् (इदम्) 7/1 सवि. द्विविधा (द्विविधा) 1/1 वि. निष्ठा
 (निष्ठा) 1/1 पुरा (अ) = पहले प्रोक्ता (प्र-वच् → प्र-उक्त →
 स्त्री
 प्रोक्त → प्रोक्ता) भूकृ 1/1 मयानघ [(मया) + (अनघ)] मया
 (अस्मद्) 3/1 स. अनघ (अनघ) 8/1 वि. ज्ञानयोगेन (ज्ञानयोग)
 3/1 सांख्यानां कर्मयोगेन [(सांख्यानाम्) + (कर्मयोगेन)] सांख्यानाम्
 (सांख्य) 6/3. कर्मयोगेन (कर्मयोग) 3/1. योगिनाम् (योगिन्) 6/3

25. न (अ) = नहीं हि (अ) = निस्संदेह कश्चित्क्षणमपि [(कश्चित्)
 + (क्षणम्) + (अपि)] कश्चित्¹ [(कः + (चित्)]
 कः (किम्) + (चित्¹) 1/1 स. क्षणम् (अ) = एक क्षण के
 लिए. अपि (अ) = भी. जातु (अ) = किसी समय. तिष्ठत्यकर्मकृत्
 [(तिष्ठति) + (अकर्मकृत्)] तिष्ठति (स्था) व 3/1 अक. अकर्मकृत्
 प्रे कर्म
 [(अकर्म) - (कृत्)² 1/1 वि]. कार्यते (कृ → कारयु³ → कार्यते) प्रे.
 कर्म व 3/1 सक ह्यवशः [(हि) + (अवशः)] हि (अ) = क्योंकि.

1. किम् और किम् से उत्पन्न अन्य शब्दों के साथ जुड़ने वाला अव्यय, जिससे अर्थ में अनिश्चयात्मकता आती है।
2. कृत् (दि) : प्रायः समास के अन्त में प्रयुक्त।
3. प्रेरणार्थक का कर्मवाच्य बनाते समय अय् का लोप हो जाता है।

अवशः (अवश) 1/1 वि. कर्म (कर्मन्) 1/1 सर्वः (सर्व) 1/1 वि
 प्रकृतिजैर्गुरौः [(प्रकृतिजैः) + (गुरौः)] प्रकृतिजैः [(प्रकृति)-(ज) 4
 3/3 वि] गुरौः (गुरा) 3/3.

26. यस्त्विन्द्रियाणि [(यः) + (तु) + (इन्द्रियाणि)] यः (यत्) 1/1
 सवि. तु (अ) = और इन्द्रियाणि (इन्द्रिय) 2/3. मनसा (मनस्)
 3/1 नियम्यारभतेऽर्जुन [(नियम्य) + (आरभते) + (अर्जुन)]
 नियम्य (नि-यम्) पूकृ. आरभते (आ-रम्) व 3/1 सक. अर्जुन
 (अर्जुन) 8/1 कर्मेन्द्रियैः (कर्मेन्द्रिय) 3/3 कर्मयोगमसक्तः [(कर्म-
 योगम्) + (असक्तः)] कर्मयोगम् (कर्मयोग) 2/1. असक्तः (असक्त)
 1/1 वि. स विशिष्यते [(सः) + (विशिष्यते)] सः (तत्) 1/1 सवि.
 विशिष्यते (वि-शिष्) व कर्म 3/1 अक.

27. यस्त्वात्मरतिरेव [(यः) + (तु) + (आत्मरतिः) + (एव)] यः (यत्)
 1/1 सवि. तु (अ) = परन्तु. आत्मरतिः [(आत्म)-(रति) 1/1].
 एव (अ) = ही. स्यादात्मतृप्तश्च [(स्यात्) + (आत्म) + (तृप्तः) +
 (च)] स्यात् (अस्) विधि 3/1 अक. [आत्म)-(तृप् → तृप्त) भूकृ
 1/1] च (अ) = तथा मानवः (मानव) 1/1 आत्मन्येव [(आत्मनि)
 + (एव)] आत्मनि (आत्मन्) 7/1. एव (अ) = ही. च (अ) = और
 संतुष्टस्तस्य [संतुष्टः) + (तस्य)] संतुष्टः (सम्-तुष् → संतुष्ट) भूकृ
 1/1. तस्य (तत्) 6/1 स. कार्यं न [(कार्यम्) + (न)] कार्यम्
 (कार्यं) 1/1. न (अ) = नहीं. विद्यते (विद्) व 3/1 अक

28. नैव [(न) + (एव)] न (अ) = नहीं. एव (अ) = भी. तस्य (तत्)
 6/1 स. कृतेनार्थो नाकृतेनेह [(कृतेन) + (अर्थः) + (न) + (अकृ-

4. ज (वि) : समास के अन्त में प्रयुक्त ।

तेन) + (इह)] कृतेन (कृ→कृत) भूकृ 3/1. अर्थः (अर्थ) 1/1. न (अ)=नहीं. अकृतेन (अ-कृ→अकृत) भूकृ 3/1. इह (अ)=इस लोक में. कश्चन (कः + चन¹) कः (किम् + चन) 1/1 सवि न (अ)=नहीं चास्य [(च) + (अस्य)] चं (अ)=निस्सन्देह. अस्य (इदम्) 6/1 स. सर्वभूतेषु [(सर्वं)-(भूत) 7/3] कश्चिदर्थ-व्यपाश्रयः [(कश्चित्) + (अर्थ) + (व्यपाश्रयः)] कश्चित् (कः + चित्¹) कः (किम् + चित्) 1/1 सवि [(अर्थ) -(व्यपाश्रय) 1/1 वि]

29. तस्मादसक्तः [(तस्मात्) + (असक्तः)] तस्मात् (अ)=इसलिए. असक्तः (असक्त) 1/1 वि. सततं कार्यं कर्म [(सततम्) + (कार्यम् + कर्म)] सततम् (अ)=लगातार. कार्यम् (कृ→कार्यं) विधि कृ 2/1. कर्म (कर्मन्) 2/1. समाचर (सम्-आ-चर्) आज्ञा 2/1 सक असक्तो ह्याचरन्कर्म [(असक्तः) + (हि) + (अचारन्) + (कर्म)] असक्तः (असक्त) 1/1 वि. हि (अ)=क्योंकि. आचरन् (आ-चर्→आचरत्) वकृ 1/1. कर्म (कर्मन्) 2/1. परमाप्नोति [(परम्) + (आप्नोति)] परम् (पर) 2/1. आप्नोति (आप्) व 3/1 सक. पूरुषः (पूरुष) 1/1

30. कर्मणोर्व [(कर्मणा) + (एव)] कर्मणा (कर्मन्) 3/1. एव (अ)=ही. हि (अ)=इसलिए संसिद्धिमास्थिता जनकादयः [(संसिद्धिम्) + (आस्थिताः) + (जनकादयः)] संसिद्धिम् (संसिद्धि) 2/1. आस्थिताः (आ-स्था→आस्थित)भूकृ 1/3. जनकादयः (जनकादि) 1/3. लोकसंग्रहमेवापि [(लोकसंग्रहम्) + (एव) + (अपि)] लोकसंग्रहम्

1. प्रायः 'अनिश्चय' अर्थ प्रकट करने के लिए 'किम्' के साथ 'चन' या चित् जोड़ दिया जाता है। (आप्टे-संस्कृत हिन्दी कोष)।
1. यह कर्तृवाच्य में भी प्रयुक्त होता है।

(लोकसंग्रह)2/1. एव (अ) = केवल. अपि (अ) = भी. संपश्यन्कर्तुमर्हसि [(संपश्यन्) + (कर्तुम्) + (अर्हसि)] संपश्यन् (सम्-इष् → संपश्यत्) वक्त्र 1/1. कर्तुम् (कृ → कर्तुम्) हेकृ. अर्हसि (अर्ह्) व 2/1 अक.

31. यद्यदाचरति [(यत्) + (यत्) + (आचरति)] यत् (यत्) 2/1 सवि. आचरति (आ-चर्) व 3/1 सक. श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः [(श्रेष्ठः) + (तत्) + (तत्) + (एव) + (इतरः) + (जनः)] श्रेष्ठः (श्रेष्ठ) 1/1 वि. तत् (तत्) 2/1 सवि. एव (अ) = ही. इतरः (इतर) 1/1 वि. जनः (जन) 1/1. स यत्प्रमाणं कुरुते [(सः) + (यत्) + (प्रमाणम्) + (कुरुते)] सः (तत्) 1/1 सवि. यत् (यत्) 2/1 सवि. प्रमाणम् (प्रमाण) 2/1. कुरुते (कृ) व 3/1 सक. लोकस्तदनुवर्तते [(लोकः) + (तत्) + (अनुवर्तते)] लोकः (लोक) 1/1. तत् (तत्) 2/1 सवि. अनुवर्तते (अनु-वृत्) व 3/1 सक.

32. न (अ) = नहीं मे (अस्मद्) 4/1 स पार्थस्ति [(पार्थ) + (अस्ति)] पार्थं (पार्थ) 8/1. अस्ति (अस्) व 3/1 अक. कर्तव्यं त्रिषु [(कर्तव्यम्) + (त्रिषु)] कर्तव्यम् (कर्तव्य) 1/1. त्रिषु (त्रि) 7/3. लोकेषु (लोक) 7/3 किञ्चन (किम् + चन¹) 1/1 सवि नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त एव [(न) + (अनवाप्तम्) + (अवाप्तव्यम्) + (वर्ते) + (एव)] न (अ) = नहीं. अनवाप्तम् (अन्-अव-प्राप् → अन्-अव-प्राप्त → अनवाप्त) भूकृ 1/1. अवाप्तव्यम् (अव-प्राप् → अव-प्राप्तव्य → अवाप्तव्य) विधि कृ 1/1. वर्ते (वृत्) व 1/1 अक. एव (अ) = ही च (अ) = यद्यपि कर्मणि (कर्मन्) 7/1

1. सर्वनाम 'किम्' के साथ प्रयुक्त होकर अनिश्चयात्मक अर्थ को व्यक्त करता है ।

33. यदि (अ) = यदि ह्यहं न [(हि) + (अहम्) + (न)] हि (अ) = ही
 अहम् (अस्मद्) 1/1 स. न (अ) = नहीं. वर्तयं जातु [(वर्तयम्) +
 (जातु)] वर्तयम् (वृत्) विधि 1/1 अक. जातु (अ) = किसी समय.
 कर्मण्यतन्द्रितः [(कर्मणि) + (अतन्द्रितः)] कर्मणि (कर्मन्) 7/1.
 अतन्द्रितः (अतन्द्रित) 1/1 वि. मम (अस्मद्) 6/1 स. वर्तमानुवर्तन्ते
 [(वर्तम्) + (अनुवर्तन्ते¹)] वर्तम् (वर्तन्) 2/1. अनुवर्तन्ते (अनु-वृत्)
 व 3/3 सक. मनुष्याः (मनुष्य) 1/3. पार्थ (पार्थ) 8/1 सर्वशः
 (अ) = सर्वत्र.

34. सक्ताः (सञ्ज् → सक्त) भूकृ 1/3 कर्मण्यविद्वांसो यथा [(कर्मणि) +
 (अविद्वांसः) + (यथा)] कर्मणि (कर्मन्) 7/1. अविद्वांसः (अ-विद्वस्)
 1/3 वि. यथा (अ) = जैसे. कुर्वन्ति (कृ) व 3/3 सक भारत (भारत)
 8/1. कुर्याद्विद्वांस्तथासक्तश्चिकीर्षुर्लोकसंग्रहम् [(कुर्यात्) + (विद्वान्)
 + (तथा) + (असक्तः) (चिकीर्षुः) + (लोकसंग्रहम्)] कुर्यात् (कृ)
 विधि 3/1 सक. विद्वान् (विद्वस्) 1/1 वि. तथा (अ) = वैसे ही.
 असक्तः (अ-सञ्ज् → असक्त) भूकृ 1/1. चिकीर्षुः (चिकीर्षु²) 1/1 वि.
 लोकसंग्रहम् (लोकसंग्रह) 2/1.

35. न (अ) = नहीं बुद्धिभेदं जनयेदज्ञानां कर्मसङ्गिनाम् [(बुद्धिभेदम्) +
 (जनयेत्) + (अज्ञानाम्) + (कर्मसङ्गिनाम्)] बुद्धिभेदम् [(बुद्धि)—
 प्रे
 (भेद) 2/1]. जनयेत् (जन्³ → जनय) प्रे विधि 3/1 सक. अज्ञानाम्

1. वर्तमानकाल का प्रयोग भविष्यत् अर्थ में ।
2. 'चिकीर्षु' का प्रयोग द्वितीया के साथ होता है। (Monier-Williams, Sans-Eng Dictionary, P 394, col. III)
3. जन् आदि कुछ धातुओं के उपात्त्य स्वर के 'अ' को 'आ' नहीं होता है ।

(अज) 6/3 वि. कर्मसङ्गिनाम् [(कर्म)-(सङ्गित्) 6/3 वि].
 प्रे
 जोषयेत्सर्वकर्माणि [(जोषयेत्)+(सर्वकर्माणि)] जोषयेत् (जुष→
 जोषय्) प्रे. विधि 3/1 सक. सर्वकर्माणि [(सर्वं)-(कर्मन्) 2/3].
 विद्वान्युक्तः [(विद्वान्)+(युक्तः)] विद्वान् (विद्वस्) 1/1 वि युक्तः
 (युक्त) 1/1 समाचरन् (सम्-आचर्→सम्-आ-चरत्) वक्तु 1/1

कर्म

36. प्रकृतेः (प्रकृति) 6/1 क्रियमाणानि (कृ→क्रिय→क्रियमाण) वक्तु कर्म
 1/3. गुणैः (गुण) 3/3 कर्माणि (कर्मन्) 1/3 सर्वशः (अ)=सर्वत्र
 अहंकारविमूढात्मा [(अहंकार)+(विमूढ)+(आत्मा)] [(अहंकार)-
 (विमूढ) भूक्त-(आत्मन्) 1/1 कर्ताहमिति [(कर्ता)+(अहम्)+(
 इति)] कर्ता (कृत्) 1/1 वि. अहम् (अस्मद्) 1/1 स. इति
 (अ)=इस प्रकार मन्यते (मन्) व 3/1 सक

37. तत्त्ववित्तु [(तत्त्वविद्)+(तु)] तत्त्वविद् (तत्त्वविद्) 1/1 वि.
 तु (अ)=किन्तु महाबाहो (महाबाहु) 3/1 गुणकर्मविभागयोः
 [(गुण)-(कर्म)-(विभाग) 6/2] गुणा गुणेषु [(गुणाः)+(
 गुणेषु)] गुणाः (गुण) 1/3. गुणेषु (गुण) 7/3. वर्तन्त इति
 (वर्तन्ते)+(इति)] वर्तन्ते (वृत्) व 3/3 अक इति (अ)=इस प्रकार.
 मत्वा (मन्) पूक्त न (अ)=नहीं सज्जते (सज्ज्) व 3/1 अक.

38. प्रकृतेर्गुणसंमूढाः [(प्रकृतेः)+(गुणसंमूढाः)] प्रकृतेः (प्रकृति) 6/1.
 गुणसंमूढाः [(गुण)-(सम्-मुह्→संमूढ) भूक्त 1/3]. सज्जन्ते (सज्ज्)
 व 3/1 अक गुणकर्मसु [(गुण)-(कर्म) 7/3] तानकृत्स्नविदो
 मन्दानकृत्स्नविन्न [(तान्)+(अकृत्स्नविदः)+(मन्दान्)+(कृत्स्नविद्)
 +(न)] तान् (तत्) 2/3 स. अकृत्स्नविदः [(अकृत्स्न)वि-(विद्)1]

2/3 वि]. मन्दान् (मन्द) 2/3 वि. कृत्स्नविद् [(कृत्स्न) वि-(विद्¹)
 प्रे
 1/1 वि) न (अ) = न. विचालयेत् (वि-चल् → वि-चालय्) विधि
 3/1 सक.

39. इन्द्रियाणि (इन्द्रिय) 1/3 पराण्याहुरिन्द्रियेभ्यः [(पराणि) + (आहुः)
 + (इन्द्रियेभ्यः)] पराणि (पर) 1/3 वि. आहुः (आहु) व 3/3 सक.
 इन्द्रियेभ्यः (इन्द्रिय) 5/3. परं मनः [(परम्) + (मनः)] परम् (पर)
 -1/1 वि. मनः (मनस्) 1/1. मनसस्तु [(मनसः) + (तु)] मनसः
 स्त्री
 (मनस्) 5/1. तु (अ) = श्रीर. परा (पर → परा) 1/1 वि बुद्धिर्यो बुद्धेः
 [(बुद्धिः) + (यः) + (बुद्धेः)] बुद्धिः (बुद्धि) 1/1. यः (यत्) 1/1 सवि.
 बुद्धेः (बुद्धि) 5/1. परतस्तु [(परतः) + (तु)] परतः (अ) = परे.
 तु (अ) = तथा सः (तत्) 1/1 सवि.

40. किं कर्म [(किम्) + (कर्म)] किम् (किम्) 1/1 सवि. कर्म (कर्मन्)
 1/1. किमकर्मैति [(किम्) + (अकर्म) + (इति)] किम् (किम्) 1/1
 सवि. अकर्म (अ-कर्मन्) 1/1. इति (अ) = शब्दस्वरूप द्योतक.
 कवयोऽप्यत्र [(कवयः) + (अपि) + (अत्र)] कवयः (कवि) 1/3. अपि
 (अ) = भी. अत्र (अ) = इस संबंध में मोहिताः (मुह् → मोहित) भूक्
 1/3 तत्ते [(तत्) + (ते)] तत् (तत्) 2/1 सवि. ते (युष्मद्) 4/1 स
 कर्म (कर्मन्) 2/1 प्रवक्ष्यामि (प्र-वच्) भवि 1/1 सक यज्ज्ञात्वा
 [(यत्) + (ज्ञात्वा)] यत् (यत्) 2/1 सवि. ज्ञात्वा (ज्ञा) पूक्. मोक्ष्य-
 सेऽशुभात् [(मोक्ष्यसे) + (अशुभात्)] मोक्ष्यसे (मुच्) भवि 2/1 सक.
 अशुभात् (अशुभ) 5/1.

1. विद् (वि) : समास के अन्त में प्रयुक्त होता है ।

41. कर्मणो ह्यपि [(कर्मणः) + (हि) + (अपि)] (कर्मणः कर्मन्) 6/1.
 हि (अ) = क्योकि. अपि (अ) = भी. बोद्धव्यं बोद्धव्यं च [(बोद्धव्यम्)
 + (बोद्धव्यम्) + (च)] बोद्धव्यम् (बुध् → बोद्धव्य) विधि कृ 1/1.
 बोद्धव्यम् (बुध् → बोद्धव्य) विधि कृ 1/1. च (अ) = और विकर्मणः
 (विकर्मन्) 6/1 अकर्मणश्च [(अकर्मणः) + (च)] अकर्मणः (अकर्मन्)
 6/1. च (अ) = और. बोद्धव्यं गहना [(बोद्धव्यम्) + (गहना)]
 स्त्री
 बोद्धव्यम् (बुध् → बोद्धव्य) विधि कृ 1/1. गहना (गहन → गहना) 1/1
 वि. कर्मणो गतिः [(कर्मणः) + (गतिः)] कर्मणः (कर्मन्) 6/1. गतिः
 (गति) 1/1.

42. कर्मण्यकर्म [(कर्मणि) + (अकर्म)] कर्मणि (कर्मन्) 7/1. अकर्म
 (अकर्मन्) 2/1. यः (यत्) 1/1 सवि. पश्येदकर्मणि [(पश्येत्) +
 (अकर्मणि)] पश्येत् (हृष्) विधि 3/1 सक. अकर्मणि (अकर्मन्) 7/1.
 च (अ) = और कर्म (कर्मन्) 2/1 यः (यत्) 1/1 सवि. स बुद्धि-
 मान्मनुष्येषु [(सः) + (बुद्धिमान्) + (मनुष्येषु)] सः (तत्) 1/1 सवि.
 बुद्धिमान् (बुद्धिमत्) 1/1 वि. मनुष्येषु (मनुष्य) 7/3. स युक्तः
 [(सः) + (युक्तः)] सः (तत्) 1/1 सवि. युक्तः (युक्त) 1/1.
 कृत्स्नकर्मकृत् [(कृत्स्न) वि - (कर्मन् → कर्म) - (कृत्¹) 1/1 वि]

43. यस्य (यत्) 6/1 सर्वे (सर्व) 1/3 वि समारम्भाः (समारम्भ) 1/3
 कामसंकल्पवर्जिताः [[(काम) — (संकल्प) — (वृज् → वर्जित) भूकृ
 1/3] वि] ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं तमाहुः पण्डितं बुधा [(ज्ञान) +
 (अग्नि) + (दग्ध) + (कर्माणम्) + (तम्) + (आहुः) + (पण्डितम्)]

1. कृत् (वि) : समास के अन्त में प्रयुक्त होता है ।

+ (बुधाः)] [[(जान) - (अग्नि) - (दह् → दग्ध) भूकृ - (कर्म) 2/1] वि] तम् (तत्) 2/1 सवि. आहुः (ब्रू) 3/3 सक. पण्डितम् (पण्डित) 2/1. बुधाः (बुध) 1/3 वि.

44. त्यक्त्वा (त्यज्) पूकृ कर्मफलासङ्गं नित्यतृप्तो निराश्रयः [(कर्म) + (फल) + (आसङ्गम्) + (नित्यतृप्तः) + (निराश्रयः)] [(कर्मन् → कर्म) - (फल) - (आसङ्ग) 2/1]. नित्यतृप्तः [(नित्य) - (तृप् → तृप्त) भूकृ 1/1]. निराश्रयः (निराश्रय) 1/1 वि. कर्मण्यभिप्रवृत्तोऽपि [(कर्मणि) + (अभिप्रवृत्तः) + (अपि)] कर्मणि (कर्मन्) 7/1. अभिप्रवृत्तः (अभि-प्र-वृत् → अभि-प्र-वृत्त) भूकृ 1/1. अपि (अ) = भी. नैव [(न) + (एव)] न (अ) = नहीं. एव (अ) = भी. किञ्चित्करोति [(किञ्चित्) + (करोति)] किञ्चित् (किम् + चित्¹) 2/1 सवि. करोति (कृ) व 3/1 सक. सः (तत्) 1/1 सवि.

45. निराशीर्यतचित्तात्मा [(निराशीः) + (यतचित्तात्मा)] निराशीः (निराशिष्) 1/1 वि. यतचित्तात्मा [(यत) + (चित्त) + (आत्मा)] [(यम् → यत) भूकृ - (चित्त) - (आत्मन्) 1/1] त्यक्तसर्वपरिग्रहः [(त्यज् → त्यक्त) भूकृ - (सर्व) वि - (परिग्रह) 1/1] शारीरं केवलं कर्म [(शारीरम्) + (केवलम्) + (कर्म)] शारीरम् (शारीर) 2/1 वि. केवलम् (अ) = केवल. कर्म (कर्मन्) 2/1. कुर्वन्नाप्नोति [कुर्वन् + (न) + (आप्नोति)] कुर्वन् (कृ → कुर्वत्) वकृ 1/1. न (अ) = नहीं. आप्नोति (आप्) व 3/1 सक. किल्बिषम् (किल्बिष) 2/1

1. किम् और किम् से व्युत्पन्न अन्य शब्दों के साथ जुड़ने वाला अव्यय, जिससे अर्थ में अनिश्चयात्मकता आती है ।

46. यदृच्छालाभसंतुष्टो द्वन्द्वातीतो विमत्सरः [(यदृच्छालाभसंतुष्टः) + (द्वन्द्वातीतः) + (विमत्सरः)] यदृच्छालाभसंतुष्टः [यदृच्छा- (लाभ) - (संतुष् → संतुष्ट) भूकृ 1/1]. द्वन्द्वातीतः [(द्वन्द्व) + (अतीतः)] [(द्वन्द्व) - (अतीत) 1/1 वि] विमत्सरः (विमत्सर) 1/1 वि. समः (सम) 1/1 वि सिद्धावसिद्धौ [(सिद्धौ) + (असिद्धौ)] सिद्धौ (सिद्धि) 7/1. असिद्धौ (असिद्धि) 7/1. च (अ) = तथा कृत्वापि [(कृत्वा) + (अपि)] कृत्वा (कृ) पूकृ. अपि (अ) = भी. न (अ) = नहीं. निबध्यते (नि-बन्ध्) व कर्म 3/1 सक.

47. यद्यैधांसि [(यथा) + (एधांसि)] यथा (अ) = जैसे. एधांसि (एधस्) 2/3. समिद्धोऽग्निर्भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन [(समिद्धि.) + (अग्निः) + (भस्मसात्) + (कुरुते) + (अर्जुन)] समिद्ध (सम्-इन्ध् → सम्-इद्ध) भूकृ 1/1. अग्निः (अग्नि) 1/1 भस्मसात् (अ) = रास्वरूप. कुरुते (कृ) व 3/1 सक. अर्जुन (अर्जुन) 8/1. ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि [(ज्ञानाग्निः) + (सर्वकर्माणि)] ज्ञानाग्निः [(ज्ञान) + (अग्निः)] [(ज्ञान) - (अग्नि) 1/1] सर्वकर्माणि [(सर्व) - (कर्मन्) 2/3] भस्मसात्कुरुते [(भस्मसात्) + (कुरुते)] भस्मसात् (अ) = नष्ट. कुरुते (कृ) व 3/1 सक. तथा (अ) = वैसे ही.

48. न (अ) = नहीं हि (अ) = निस्सदेह ज्ञानेन¹ (ज्ञान) 3/1 सदृशं पवित्रमिह [(सदृशम्) + (पवित्रम्) + (इह)] सदृशम्¹ (सदृश) 1/1 वि. पवित्रम् (पवित्र) 1/1 वि इह (अ) = इस लोक में. विद्यते (विद्) व 3/1 अक. तत्स्वयं योगसंसिद्धः [(तत्) + (स्वयम्) +

1. समानार्थवाचक तुल्य, सदृश आदि शब्दों के योग में तृतीया या षष्ठी होती है ।

(योगसंसिद्धः)] तत् (तत्) 2/1 स. स्वयम् (अ) = अपने आप.
योगसंसिद्धः [(योग) - (सम्-सिद्ध-→संसिद्ध) भूकृ 1/1]. कालेनात्मनि
[(कालेन) + (आत्मनि)] कालेन (अ) = समय पर. आत्मनि (आत्मन्)
7/1. विन्दति (विद्) व 3/1 सक.

49. श्रद्धावांल्लभते [(श्रद्धावान्) + (लभते)] श्रद्धावान् (श्रद्धावत्) 1/1
वि. लभते (लम्) व 3/1 सक. ज्ञानं तत्परः [(ज्ञानम्) + (तत्परः)]
ज्ञानम् (ज्ञान) 2/1. तत्परः¹ (तत्पर) 1/1 वि. संयतेन्द्रियः [(संयत)
+ (इन्द्रियः)] [(सम्-यम्-→संयत) भूकृ-(इन्द्रिय) 1/1] ज्ञानं
लब्ध्वा [(ज्ञानम्) + (लब्ध्वा)] ज्ञानम् (ज्ञान) 2/1. लब्ध्वा (लम्)
पूकृ. परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति [(पराम्) + (शान्तिम्) +
स्त्री
(अचिरेण) + (अधिगच्छति)] पराम् (पर-→परा) 2/1 वि. शान्तिम्
(शान्ति) 2/1. अचिरेण (अ) = तुरन्त. अधिगच्छति (अधिगम्) व
3/1 सक.

50. अज्ञश्चाश्रद्धघानश्च [(अज्ञः) + (च) + (अश्रद्धघानः) + (च)] अज्ञः
(अज्ञ) 1/1 वि. च (अ) = और. अश्रद्धघानः (अश्रद्धघान) 1/1 वि.
च (अ) = तथा. संशयात्मा (संशयात्मन्) 1/1 वि. विनश्यति (वि-
नश्) व 3/1 अक. नायं लोकोऽस्ति [(न) + (अयम्) + (लोकः) +
(अस्ति)] नहीं (अ) = न. अयम् (इदम्) 1/1 सवि. लोकः (लोक)
1/1. अस्ति (अस्) व 3/1 अक. न (अ) = नहीं. परो न [(परः) +
(न)] पर (पर) 1/1 वि. न (अ) = न. सुखं संशयात्मनः [(सुखम्) +
(संशयात्मनः)] सुखम् (सुख) 1/1. संशयात्मनः (संशयात्मन्)]
6/1 वि.

1. तत्पर=उसमें संलग्न

51. योगसंन्यस्तकर्माणं ज्ञानसंछिन्नसंशयम् [(योगसंन्यस्तकर्माणम्) + (ज्ञान-
संछिन्नसंशयम्)] योगसंन्यस्तकर्माणम् [[[योग)-(संनि-अस्-→संन्यस्त)
भूक्-(कर्मन्) 2/1] वि]. ज्ञानसंछिन्नसंशयम् [[[ज्ञान)-(सम्-छिद्-→
संछिन्न)भूक्-(संशय)2/1]वि] आत्मवन्तं न [(आत्मवन्तम्) + (न)]
आत्मवन्तः - /आत्मवत् 2/1 वि. न (अ) = नहीं कर्माणि (कर्मन्)
1/3 निबध्नन्ति (नि—बन्ध्) व 3/3 सक धनञ्जय (धनञ्जय) 8/1.

52. संन्यासः (संन्यास) 1/1 कर्मयोगश्च [(कर्मयोगः) + (च)] कर्मयोगः
(कर्मयोग) 1/1. च (अ) = और. निःश्रेयसकरावुभौ [(निःश्रेयसकरो)
+ (उभौ)] निःश्रेयसकरो (निःश्रेयसकर¹) 1/2 वि उभौ (उभ) 1/2
सवि. तयोस्तु [(तयोः) + (तु)] तयोः (तत्) 7/2 स. तु (अ) = तो
भी. कर्मसंन्यासात्कर्मयोगो विशिष्यते [(कर्मसंन्यासात्) + (कर्मयोगः)
+ (विशिष्यते)] कर्मसंन्यासात् [(कर्मन्-→कर्म) — (संन्यास) 5/1].
कर्मयोगः (कर्मयोग) 1/1. विशिष्यते (वि—शिष्) व कर्म 3/1 सक.

53. सांख्ययोगौ [(सांख्य) — (योग) 2/2] पृथग्बालाः [(पृथक्) +
(बालाः)] पृथक् (अ) = भिन्न. बालाः (बाल) 1/3 वि. प्रवदन्ति
(प्र—वद्) व 3/3 सक न (अ) = नहीं पण्डिताः (पण्डित) 1/3 वि
एकमप्यास्थितः [(एकम्) + (अपि) + (आस्थितः)] एकम् (एक) 2/1
सवि. अपि (अ) = भी. आस्थितः (आ—स्था-→आस्थित) भूक् 1/1.
सम्यग्बुभयोर्विन्दते [(सम्यक्) + (उभयोः) + (विन्दते)] सम्यक् (अ) =
पूर्णांतः. उभयोः (उभय) 6/2 सवि. विन्दते (विद्) व 3/1 सक.
फलम् (फल) 2/1.

1. कर (वि) : समास के अन्त में प्रयुक्त होता है ।

54. यत्सांख्यैः [(यत्) + (सांख्यैः)] यत् (यत्) 1/1 सवि. सांख्यैः (सांख्य) 3/3. प्राप्यते (प्र-प्राप्) व कर्म 3/1 सक. स्थानं तद्योगैरपि [(स्थानम्) + (तत्) + (योगैः) + (पपि)] स्थानम् (स्थान) 1/1. तत् (तत्) 1/1 सवि. योगैः (योग) 3/3. अपि (अ) = भी. गम्यते (गम्) व कर्म 3/1 सक. एकं सांख्यं च योगं च [(एकम्) + (सांख्यम्) + (च) + (योगम्) + (च)] एकम् (एक) 2/1 सवि. सांख्यम् (सांख्य) 2/1. च (अ) = और. योगम् (योग) 2/1. यः (यत्) 1/1 सवि. पश्यति (दृश्) व 3/1 सक स पश्यति [(सः) + (पश्यति)] सः (तत्) 1/1 सवि. पश्यति (दृश्) व 3/1 सक.
55. ब्रह्मण्याघाय [(ब्रह्मणि) + (आघायं)] ब्रह्मणि (ब्रह्मन्) 7/1. आघाय (आ-घा-घा-घाय) पूक. कर्माणि (कर्मन्) 2/3. सङ्गं त्यक्त्वा [(सङ्गम्) + (त्यक्त्वा)] सङ्गम् (सङ्ग) 2/1. त्यक्त्वा (त्यज्) पूक. करोति (कृ) व 3/1 सक यः (यन्) 1/1 सवि लिप्यते (लिप्) व कर्म 3/1 सक न (अ) = नहीं स पापेन [(सः) + (पापेन)] सः (तत्) 1/1 सवि. पापेन (पाप) 3/1 पद्मपत्रमिबाम्भसा [(पद्मपत्रम्) + (इव) + (अम्भसा)] पद्मपत्रम् [(पद्म) — (पत्र) 1/1]. इव (अ) = जैसे. अम्भसा (अम्भस्) 3/1.
56. युक्तः (युक्त) 1/1 कर्मफलं त्यक्त्वा [(कर्मफलम्) + (त्यक्त्वा)] कर्मफलम् [(कर्म) — (फल) 2/1]. त्यक्त्वा (त्यज्) पूक. शान्तिमाप्नोति [(शान्तिम्) + (आप्नोति)] शान्तिम् (शान्ति) 2/1. आप्नोति (आप्) स्त्री व 3/1 सक. नैष्ठिकीम् (नैष्ठिक-नैष्ठिकी) 2/1 वि अयुक्तः (अयुक्त) 1/1 वि कामकारेण (कामकार) 3/1 वि क्ले (फल) 7/1 सक्तो निबध्यते [(सक्तः) + (निबध्यते)] सक्तः (सञ्ज-सक्त) भूक 1/1. निबध्यते (नि-बन्ध्) व कर्म 3/1 सक.

7. सर्वकर्माणि [(सर्वं) — (कर्मन्) 2/3] मनसा (मनस्) 3/1 सन्यस्यास्ते
 [(सन्यस्य) + (आस्ते)] सन्यस्य (संनि-प्रस् → सन्यस्) पूक. आस्ते
 (आस्) व 3/1 अक. सुखं वशी [(सुखम्) + (वशी)] सुखम् (क्रिविअ)
 = प्रसन्-तापूर्वक. वशी (वशिन्) 1/1 वि. नवद्वारे [(नव) - (द्वार)
 7/1] पुरे (पुर) 7/1 बेही (देहिन्) 1/1 वि नव [(न) + (एव)]
 न (अ) = नहीं. एव (अ) = ही. कुर्वन् [(कुर्वन्) + (न)] कुर्वन्
 प्रे.
 (कृ → कुर्वत्) वकृ 1/1. न (अ) = नहीं कारयन् (कृ → कारय् →
 कारयत्) प्रे. वकृ 1/1.

8. ज्ञानेन (ज्ञान) 3/1 तु (अ) = तो तदज्ञानं येषां नाशितमात्मनः
 [(तत्) + (अज्ञानम्) + (येषाम्) + (नाशितम्) + (आत्मनः)] तत्
 (तत्) 1/1 सवि. अज्ञानम् (अज्ञान) 1/1. येषाम् (यत्) 6/3 स.
 प्रे.

नाशितम् (नश् → नाशय् → नाशित) भूकृ 1/1. आत्मनः (आत्मन्)
 6/1. तेषामादित्यवज्ज्ञानं प्रकाशयति [(तेषाम्) + (आदित्यवत्) +
 (ज्ञानम्) + (प्रकाशयति)] तेषाम् (तत्) 6/3 स. आदित्यवत्¹ (अ) =
 प्रे.

सूर्य के समान. ज्ञानम् (ज्ञान) 1/1. प्रकाशयति (प्र-काश् → प्रकाशय्)
 प्रे. व 3/1 सक. तत्परम् [(तत्) + (परम्)] तत् (तत्) 2/1 सवि
 परम् (पर) 2/1 वि.

9. तद्बुद्ध्यस्तदात्मानस्तन्निष्ठास्तत्परायणाः [(तत्) + (बुद्ध्यः) + (तत्)
 + (आत्मानः) + (तत्) + (निष्ठाः) + (तत्) + (परायणाः)]

1. 'समानता' शब्द को प्रकट करने के लिए संज्ञा या-विशेषण शब्दों के साथ 'वत्'
 जोड़ दिया जाता है और ऐसे शब्द अव्यय हो जाते हैं ।

[[(तत्) — (बुद्धि) 1/3] वि] [[(तत्) — (आत्मन्) 1/3] वि]
 [[(तत्) — (निष्ठ) 1/3] वि] [[(तत्) — (परायण) 1/3] वि]
 गच्छन्त्यपुनरावृत्ति ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः [(गच्छन्ति) + (अपुनरावृत्तिम्)
 + (ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः)] गच्छन्ति (गम्) व 3/3 सक. अपुनरावृत्तिम्
 (अपुनरावृत्ति) 2/1. ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः [[(ज्ञान) — (निर्-धू-निर्धूत)
 भूक-कल्मष) 1/3] वि]

60. इहैव [(इह) + (एव)] इह (अ) = इस लोक में. एव (अ) = ही.
 तैजितः [(तैः) + (जितः)] तैः (तत्) 3/3 स. जितः (जि → जित)
 भूक 1/1. सर्गो येषां साम्ये [(सर्गः) + (येषाम्) + (साम्ये)] सर्गः
 (सर्ग) 1/1. येषाम् (यत्) 6/3 स. साम्ये (साम्य) 7/1. स्थितं
 मनः [(स्थितम्) + (मनः)] स्थितम् (स्था → स्थित) भूक 1/1. मनः
 (मनस्) 1/1. निर्दोषं हि [(निर्दोषम्) + (हि)] निर्दोषम् (निर्दोष)
 1/1 वि. हि (अ) = चूँकि. समं ब्रह्म [(समम्) + (ब्रह्म)] समम्
 (सम) 1/1 वि. ब्रह्म (ब्रह्मन्) 1/1. तस्माद्ब्रह्मणि [(तस्मात्) +
 (ब्रह्मणि)] तस्मात् (अ) = इसलिए. ब्रह्मणि (ब्रह्मन्) 7/1 ते (तत्)
 1/3 सवि स्थिताः (स्था → स्थित) भूक 1/3.

61. न (अ) = नहीं प्रहृष्येत्प्रियं प्राप्य [(प्रहृष्येत्) + (प्रियम्) + (प्राप्य)]
 प्रहृष्येत्¹ (प्र-हृष्) विधि 3/1 अक. प्रियम् (प्रिय) 2/1 वि. प्राप्य
 (प्र-आप्) पूक. नोद्विजेत्प्राप्य [(न) + (उद्विजेत्) + (प्राप्य)] न
 (अ) = नहीं. उद्विजेत्² (उद्-विज्) विधि 3/1 अक. प्राप्य (प्र-
 आप्) पूक. चाप्रियम् [(च) + (अप्रियम्)] च (व) = और. अप्रियम्
 (अप्रिय) 2/1 वि. स्थिरबुद्धिरसंमूढो ब्रह्मविद्ब्रह्मणि [(स्थिरबुद्धिः)

1. भविष्यकाल की अभिव्यक्ति कभी-कभी विधिलिङ् द्वारा भी होती है ।
2. विद् (वि) : समास के अन्त में प्रयुक्त होता है ।

- + (असंभूढः) + (ब्रह्मविद्) + (ब्रह्मणि)] स्थिरबुद्धिः (स्थिरबुद्धि)
 1/1 वि. असंभूढः (अ-संभूढ) 1/1 वि. ब्रह्मविद् (ब्रह्मविद्) 1/1
 वि ब्रह्मणि (ब्रह्मन्) 7/1]. स्थितः (स्था→स्थित) भूकृ 1/1.
62. ब्राह्मस्पर्शोष्णसक्तात्मा [(ब्राह्मस्पर्शेषु) + (असक्तात्मा)] ब्राह्मस्पर्शेषु
 [(ब्राह्म) वि-(स्पर्श) 7/3]. असक्तात्मा [(असक्त) + (आत्मा)]
 [(असञ्ज्→असक्त) भूकृ-(आत्मन्) 1/1] विन्दत्यात्मनि [(विन्दति)
 + (आत्मनि)] विन्दति (विद्) व 3/1 सक. आत्मनि (आत्मन्)
 7/1 यत्सुखम् [(यत्) + (सुखम्)] यत् (यत्) 2/1 सवि. सुखम्
 (सुख) 2/1. स ब्राह्मयोगयुक्तात्मा [(सः) + (ब्रह्मयोगयुक्तात्मा)]
 सः (तत्) 1/1 सवि. ब्रह्मयोगयुक्तात्मा [(ब्रह्मयोग) + (युक्त) +
 (आत्मा)] [(ब्रह्मयोग) — (युज्—युक्त) भूकृ—(आत्मन्) 1/1].
 सुखमक्षयमश्नुते [(सुखम्) + (अक्षयम्) + (अश्नुते)] सुखम् (सुख)
 2/1 अक्षयम् (अक्षय) 2/1 वि. अश्नुते (अश्) व 3/1 सक.
63. योऽन्तःसुखोऽन्तरारामस्तथान्तर्ज्योतिरेव [(यः) + (अन्तःसुखः) +
 (अन्तरारामः) + (तथा) + (अन्तर्ज्योतिः) + (एव)] यः (यत्)
 1/1 सवि. अन्तःसुखः [(अन्तर्) + (सुखः)] अन्तर् (अ) =
 आन्तरिक रूप से. सुखः (सुख) 1/1 वि. अन्तरारामः [(अन्तर्) +
 (आरामः)] अन्तर् (अ) = आन्तरिक रूप से. आरामः (आराम)
 1/1. तथा (अ) = श्रीर. अन्तर्ज्योतिः [(अन्तर्) + (ज्योतिः)] अन्तर्
 (अ) = आन्तरिक रूप से. ज्योतिः (ज्योतिस्) 1/1. एव (अ) = ही.
 यः (यत्) 1/1 सवि. स योगी [(सः) + (योगी)] सः (तत्) 1/1
 सवि. योगी (योगिन्) 1/1. ब्रह्मनिर्वाणं ब्रह्मभूतोऽधिगच्छति [(ब्रह्म-
 निर्वाणम्) + (ब्रह्मभूतः) + (अधिगच्छति)] ब्रह्मनिर्वाणम् (ब्रह्म-
 निर्वाण) 2/1. ब्रह्मभूतः (ब्रह्मभूत) 1/1 वि. अधिगच्छति (अधि-
 गम्) व 3/1 सक.

64. सभन्ते(नम्) व 3/3 सक ब्रह्मनिर्वाणमूषयः [(ब्रह्मनिर्वाणम्) + (ऋषयः)]
 ब्रह्मनिर्वाणम् (ब्रह्मनिर्वाण) 2/1. ऋषयः (ऋषि) 1/3. क्षीणकल्मषाः
 [[(क्षि → क्षीण) भूकृ—(कल्मष) 1/3] वि] छिन्नद्वैषा यतात्मानः
 [(छिन्नद्वैषाः) + (यतात्मानः)] छिन्नद्वैषाः [[(द्विद् → छिन्न) भूकृ—
 (द्वैष) 1/3] वि] यतात्मानः [(यत) + (आत्मानः)] [[(यम् →
 यत) भूकृ—(आत्मान्) 1/3] वि] सर्वभूतहिते [(सर्व) वि—(भूत)—
 (हित) 7/1] रताः (रम् → रत) भूकृ 1/3
65. यं संन्यासमिति [(यम्) + (संन्यासम्) + (इति)] यम् (यत्) 2/1
 सवि. संन्यासम् (संन्यास) 2/1. इति (अ) = शब्दस्वरूप द्योतक.
 प्राहुर्योगं तं विद्धि [(प्राहुः) + (योगम्) + (तम्) + (विद्धि)] प्राहुः
 (प्र—ब्रू) व 3/3 सक. योगम् (योग) 2/1. तम् (तत्) 2/1. स विद्धि
 (विद्) प्राज्ञा 2/1 सक. पाण्डव (पाण्डव) 8/1. न (अ) नहीं
 ह्यसंन्यस्तसंकल्पो योगी [(हि) + (असंन्यस्तसंकल्पः) + (योगी)] हि
 (अ) = क्योकि. असंन्यस्तसंकल्पः [(अ—संनि—अस् → असंन्यस्त) भूकृ
 —(संकल्प) 1/1] योगी (योगिन्) 1/1. भवति (भू) व 3/1 अक
 कश्चन [(कः + चन)] कः चन (किम् + चन¹) 1/1 स
66. यदा (अ) = जब हि (अ) = भी नेन्द्रियार्थेषु [(न) + (इन्द्रिय) +
 (अर्थेषु)] न (अ) = नहीं. [(इन्द्रिय)—(अर्थ) 7/3] न (अ) = नहीं
 कर्मस्वनुषज्जते [(कर्मसु) + (अनुषज्जते)] कर्मसु (कर्मन्) 7/3.
 अनुषज्जते (अनु—सज्ज्) व 3/1 अक. सर्वसंकल्पसंन्यासी [(सर्व)—
 (संकल्प)—(संन्यासिन् 1/1 वि] योगारूढस्तदोच्यते [(योगारूढः) +
 (तदा) + (उच्यते)] योगारूढः (योगारूढ) 1/1. तदा (अ) = तब.
 उच्यते (ब्रू) व कर्म 3/1 सक.

1. 'किम्' के साथ प्रयुक्त होकर अनिश्चयात्मक अर्थ को व्यक्त करता है ।

67. उद्धरेवात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत् [(उद्धरेत्) + (आत्मना) + (आत्मानम्) + (न) + (आत्मानम्) + (अवसादयेत्)] उद्धरेत् (उद्-हृ → उद्-हरेत् → उद्धरेत्) विधि 3/1 सक. आत्मना (आत्मन्) 3/1. आत्मानम् (आत्मन्) 2/1. न (अ) = नहीं. आत्मानम् (आत्मन्) 2/1.

प्रे.

अवसादयेत् (अव-सद् → अवसादय्) विधि 3/1 सक. आत्मैव [(आत्मा) + (एव)] आत्मा (आत्मन्) 1/1. एव (अ) = ही. ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव [(हि) + (आत्मनः) + (बन्धुः) + (आत्मा) + (एव)] हि (अ) = क्योंकि. आत्मनः (आत्मन्) 6/1. बन्धुः (बन्धु) 1/1. आत्मा (आत्मन्) 1/1. एव (अ) = ही. रिपुरात्मनः [(रिपुः) + (आत्मनः)] रिपुः (रिपु) 1/1. आत्मनः (आत्मन्) 6/1.

68. बन्धुरात्मात्मनस्तस्य [(बन्धुः) + (आत्मा) + (आत्मनः) + (तस्य)] बन्धुः (बन्धु) 1/1. आत्मा (आत्मन्) 1/1. आत्मनः (आत्मन्) 6/1. तस्य (तत्) 6/1 स. येनात्मैवात्मना [(येन) + (आत्मा) + (एव) (आत्मना)] येन (यत्) 3/1. स आत्मा (आत्मन्) 1/1. एव (अ) = ही. आत्मना (आत्मन्) 3/1. जितः (जि → जित) भूक्त 1/1. अनात्मनस्तु [(अनात्मनः) + (तु)] अनात्मनः (अनात्मन्) 6/1 वि. तु (अ) = किन्तु. शत्रुत्वे (शत्रुत्व) 7/1. वर्तेतात्मैव [(वर्तेत) + (आत्मा) + (एव)] वर्तेत¹ (वृत्) विधि 3/1 अक. आत्मा (आत्मन्) 1/1. एव (अ) = ही. शत्रुवत्² (अ) = शत्रु के समान

1. भविष्यकाल की अभिव्यक्ति कभी-कभी विधिलिङ्ग के द्वारा भी होती है।

2. 'समानता' अर्थ को प्रकट करने के लिए संज्ञा या विशेषण शब्दों के साथ 'वत्' जोड़ दिया जाता है और ऐसे शब्द अभ्यय हो जाते हैं।

69. जितात्मनः [(जित) + (आत्मनः)] | [जि→जित] भूकृ- (आत्मन्) 6/1] प्रशान्तस्य (प्र-शम्→प्रशान्त) भूकृ 6/1 परमात्मा (पर-मात्मन्) 1/1 समाहितः (समा-धा→समाहित) भूकृ 1/1 शीतोष्ण-सुखदुःखेषु [(शीत) + (उष्ण) + (सुखदुःखेषु)] [(शीत) वि-(उष्ण) वि-(सुख)-(दुःख) 7/3] तथा (अ) = एवं मानावमानयोः [(मान) + (अवमानयोः)] [(मान)-(अवमान) 7/2]

70. ज्ञानविज्ञानतृप्ततात्मा [(ज्ञान) + (विज्ञान) + (तृप्त) + (आत्मा)] [[(ज्ञान)-(विज्ञान)-(तृप्→तृप्त) भूकृ -- (आत्मन्) 1/1] 'वि] कूटस्थो विजितेन्द्रियः [(कूटस्थः) + (विजितेन्द्रियः)] कूटस्थः (कूटस्थ) 1/1 वि. विजितेन्द्रियः (वि-जितेन्द्रिय) 1/1 वि. युक्त इत्युच्यते [(युक्तः) + (इति) + (उच्यते)] युक्तः (युज्→युक्त) भूकृ 1/1. इति (अ) = प्रातिपादिकार्थद्योतक. उच्यते (ब्रू) व कर्म 3/1 सक. योगी (योगिन्) 1/1 समलोष्टाश्मकाञ्चनः [(सम) + (लोष्ट) + (अश्म) + (काञ्चनः)] [(सम) वि-(लोष्ट)-(अश्मन्→अश्म)-(काञ्चन) 1/1] वि]

71. सुहृन्मित्रार्युदासीनमध्यस्थद्वेष्यबन्धुषु [(सुहृद्) + (मित्र) + (अरि) + (उदासीन) + (मध्यस्थ) + (द्वेष्य) + (बन्धुषु)] [(सुहृद्) वि-(मित्र)-(अरि)-(उदासीन) वि-(मध्यस्थ) वि-(द्विष्→द्वेष्य) विधि कृ-(बन्धु) 7/3] साधुष्वपि [(साधुषु) + (अपि)] साधुषु (साधु) 7/3 वि. अपि (अ) = भी. च (अ) = तथा पापेषु (पाप) 7/3 वि. समबुद्धिर्विशिष्यते [(सम) + (बुद्धिः) + (विशिष्यते)] [(सम) वि-(बुद्धि) 1/1] विशिष्यते (वि-शिष्) व कर्म 3/1 सक.

72. योगी (योगिन्) 1/1 युञ्जीत (युज्) विधि 3/1 सक सततमात्मानं रहसि [(सततम्) + (आत्मानम्) + (रहसि)] सततम् (अ) =

निरन्तर. आत्मानम् (आत्मन्) 2/1. रहसि (रहस्) 7/1. स्थितः
 (स्था→स्थित) भूकृ 1/1 एकाकी (एकाकिन्) 1/1 वि यतच्चित्तात्मा
 [(यत) + (चित) + (आत्मा)] [[(यम्→यत) भूकृ—(चित) —
 (आत्मन्) 1/1]वि.] निराशीरपरिग्रहः [(निराशीः) + (अपरिग्रहः)]
 निराशीः (निराशिष्) 1/1 वि. अपरिग्रहः (अपरिग्रह) 1/1 वि.

73. समं कायशिरोघ्नीवं धारयन्नक्षलं स्थिरः [(समम्) + (कायशिरोघ्नीवम्)
 + (धारयन्) + (अचलम्) + (स्थिरः)] समम् (अ) = एक ही
 साथ. कायशिरोघ्नीवम् [(काय) + (शिरस्) + (घ्नीवम्) [(काय) —
 (शिरस्) — (घ्नीव) 2/1] धारयन् (धृ→धारयत्) वकृ 1/1. अचलम्
 (अ) = व्यवस्थित रूपसे. स्थिरः (स्थिर) 1/1 वि. संप्रेक्ष्य (संप्र-ईक्ष्
 →संप्रेक्ष्य) पूकृ. नासिकाग्रं स्वं दिशश्चानवलोकयन् [(नासिका) +
 (अग्रम्) + (स्वम्) + (दिशः) + (च) + (अनवलोकयन्)] [(नासिका)
 — (अग्र) 2/1] स्वम् (स्व) 2/1 वि. दिशः (दिश्) 2/3. च
 (अ) = और. अनवलोकयन् (अन्-अव-लोकं→अनवलोकयत्) वकृ 1/1

74. प्रशान्तात्मा † [(प्रशान्त) + (आत्मा)] [(प्र-शम्→प्रशान्त) भूकृ—
 (आत्मन्) 1/1] विगतभीर्ब्रह्मचारिव्रते [(विगतभीः) — (ब्रह्मचारिव्रते)]
 विगतभीः (विगतभी) 1/1 वि. ब्रह्मचारिव्रते [(ब्रह्मचारिन्→
 ब्रह्मचारि) — (व्रत) 7/1] स्थितः (स्था→स्थित) भूकृ 1/1 मनः
 (मनस्) 2/1 संयम्य (संयम्→संयम्य) पूकृ मच्चित्तो युक्त आसीत्
 [(मच्चित्तः) + (युक्तः) + (आसीत्)] मच्चित्तः (मच्चित्त) 1/1 वि.
 युक्तः (युक्त) 1/1. आसीत् (आस्) विधि 3/1 अक. मत्परः
 (मत्परः) 1/1 वि

75. नात्यश्नतस्तु [(न) + (अति) + (अश्नतः) + (तु)] न (अ) = नहीं
 अति (अ) = बहुत. अश्नतः (अश्नत्) 6/1 वि. तु (अ) = तो.

योगोऽस्ति [(योगः) + (अस्ति)] योगः (योग) 1/1. अस्ति (अस्) व 3/1 अक. न (अ) = नहीं. चैकान्तमनश्नतः [(च) + (एकान्तम्) + (अनश्नतः)] च (अ) = और. एकान्तम् (अ) = बिल्कुल. अनश्नतः (अन्-अश् → अन्-अश्नत्) वक्र 6/1. न (अ) = नहीं चाति स्वप्नशीलस्य [(च) + (अति) + (स्वप्नशीलस्य)] च (अ) = ही. अति (अ) = बहुत. स्वप्नशीलस्य (स्वप्नशीलस्य) 6/1 वि जाग्रतो नैव [(जाग्रतः) + (न) + (एव)] जाग्रतः (जाग्र → जाग्रत्) वक्र 6/1. न (अ) = नहीं. एव (अ) = ही. चार्जुन [(च) + (अर्जुन)] च (अ) = तथा. अर्जुन (अर्जुन) 8/1.

76. युक्ताहारविहारस्य [(युक्त) + (आहार) + (विहारस्य)] [[युज् → युक्त) भूकृ- (आहार) - (विहार) 6/1] वि] युक्तचेष्टस्य [[(युक्त) - (चेष्टा¹ → चेष्ट) 6/1] वि] कर्मसु (कर्मन्) 7/3 युक्तस्वप्नावबोधस्य [(युक्त) + (स्वप्न) + (अवबोधस्य)] [[(युक्त) - (स्वप्न) - (अवबोध) 6/1] वि] योगो भवति [(योगः) + (भवति)] योगः (योग) 1/1. भवति (भू) व 3/1 अक. दुःखहा [(दुःख) - (हन्²) 1/1] वि]
77. यदा (अ) = जब. विनियतं चित्तमात्मन्येवावतिष्ठते [(विनियतम्) + (चित्तम्) + (आत्मनि) + (एव) + (अवतिष्ठते)] विनियतम् (विनियम् → विनियत) भूकृ 1/1. चित्तम् (चित्त) 1/1. आत्मनि (आत्मन्) 7/1. एव (अ) = ही. अवतिष्ठते (अव-स्था) व 3/1 अक. निःस्पृहः (निःस्पृह) 1/1 वि सर्वकामेभ्यो युक्त इत्युच्यते [(सर्व) + (कामेभ्यः) + (युक्तः) + (इति) + (उच्यते)] [(सर्व) वि - (काम) 5/3] युक्तः (युज् → युक्त) भूकृ 1/1. इति (अ) = शब्दस्वरूपद्योतक. उच्यते (ब्रू) व कर्म 3/1 सक. तदा (अ) = तब.

1. चेष्टा = effort (प्रयत्न).

2 हन् (वि) = नाशक - यह समास के अन्त में प्रयुक्त होता है ।
[(प्राप्ते: संस्कृत-हिन्दी कोश)]

78. यथा (अ) = जैसे बीपो निवातस्थो नेङ्गते [(दीपः) + (निवातस्थः) + (न) + (इङ्गते)] दीपः (दीप) 1/1. निवातस्थः (निवातस्थ) 1/1 वि. न (अ) = नहीं. इङ्गते (इङ्ग्) व 3/1 अक. सोपमा [(सा) + (उपमा)] सा (तत्) 1/1 सवि. उपमा (उपमा) 1/1 स्त्री

स्मृता (स्मृ→स्मृत→स्मृता) भूकृ 1/1. योगिनो यतचित्तस्य [(योगिनः) + (यतचित्तस्य)] योगिनः (योगिन्) 6/1. यतचित्तस्य [(यम्→यत) भूकृ— (चित्त) 6/1]. युञ्जतो योगमात्मनः [(युञ्जतः) + (योगम्) + (आत्मनः)] युञ्जतः (युज्→युञ्जत्) वकृ 6/1. योगम् (योग) 2/1. आत्मनः (आत्मन्) 6/1.

79. यत्रोपरमते [(यत्र) + (उपरमते)] यत्र (अ) = जहाँ. उपरमते (उपरम्) व 3/1 अक. चित्तं निरुद्धं योगसेवया [(चित्तम्) + (निरुद्धम्) + (योगसेवया)] चित्तम् (चित्त) 1/1. निरुद्धम् (नि—रुष्→निरुद्ध) भूकृ 1/1. योगसेवया [(योग) — (सेवा) 3/1]. यत्र (अ) = जहाँ चैवात्मनात्मानं पश्यन्नात्मनि [(च) + (एव) + (आत्मना) + (आत्मानम्) + (पश्यन्) + (आत्मनि)] च (अ) = प्रौर. एव (अ) = ही. आत्मना (आत्मन्) 3/1. आत्मानम् (आत्मन्) 2/1. पश्यन् (दृश्→पश्यत्) वकृ 1/1. आत्मनि (आत्मन्) 7/1. तुष्यति (तुष्) व 3/1 अक.

80. सुखमात्यन्तिकं यत्तद्बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम् [(सुखम्) + (आत्यन्तिकम्) (यत्) + (तत्) + (बुद्धिग्राह्यम्) + (अतीन्द्रियम्)] सुखम् (सुख) 1/1. आत्यन्तिकम् (आत्यन्तिक) 1/1 वि. यत् (यत्) 1/1 सवि. तत् (तत्) 1/1 सवि. बुद्धिग्राह्यम् [(बुद्धि) — (ग्राह्य) 1/1 वि]. अतीन्द्रियम् (अतीन्द्रिय) 1/1 वि. वेत्ति (विद्) व 3/1 सक यत्र (अ) = जब न (अ) = नहीं चैवायं [(च) + (एव) + (अयम्)] च (अ) = बिल्कुल. एव (अ) = ही. अयम् (इदम्) 1/1 सवि. स्थित-

श्चलति [(स्थितः) + (चलति)] स्थितः (स्था→स्थित) भूकृ 1/1.
चलति (चल्) व 3/1 अक. तस्थतः (अ) = वास्तविकता से.

81. यं लब्ध्वा [(यम्) + लब्ध्वा] यम् (यत्) 2/1 सवि. लब्ध्वा (लभ्)
पूकृ. चापरं लाभं मन्यते [(च) + (अपरम्) + (लाभम्) + (मन्यते)]
च (अ) = अौर. अपरम् (अपर) 2/1 वि. लाभम् (लाभ) 2/1. मन्यते
(मन्) व 3/1 सक. नाधिकं ततः [(न) + (अधिकम्) + (ततः)] न
(अ) = नहीं. अधिकम् (अधिक) 2/1 वि ततः (अ) = उससे. यस्मि-
न्स्थितो न [(यस्मिन्) + (स्थितः) + (न)] यस्मिन् (यत्) 7/1 स.
स्थितः (स्था→स्थित) भूकृ 1/1. न (अ) = नहीं दुःखेन (दुःख) 3/1
गुरुणापि [(गुरुणा) + (अपि)] गुरुणा (गुरु) 3/1 वि. अपि (अ) =
प्रे. कर्म

भी. विचाल्यते (वि-चल्→वि-चाल्य→वि-चाल्यते) व कर्म 3/1
सक.

82. तं विद्याद्दुःखसंयोगवियोगं योगसंज्ञितम् [(तम्) + (विद्यात्) +
(दुःखसंयोगवियोगम्) + (योगसंज्ञितम्)] तम् (तत्) 2/1 सवि. विद्यात्
(विद्) विधि 3/1 सक. दुःखसंयोगवियोगम् [(दुःख)-(संयोग)-
(वियोग) 2/1. योगसंज्ञितम् [(योग)-(संज्ञित) 2/1 वि]स निश्चयेन
[(सः) + (निश्चयेन)] सः (तत्) 1/1 सवि. निश्चयेन (अ) = निश्चित
रूप से. योक्तव्यो योगोऽनिर्विण्णचेतसा [(योक्तव्यः) + (योगः) +
(अनिर्विण्ण) + (चेतसा) [योक्तव्यः (युज्→योक्तव्य) विधि कृ 1/1.
योगः (योग) 1/1. [(अनिर्विण्ण) वि-(चेतस्) 3/1].

83. संकल्पप्रभवान्कामास्त्यक्त्वा [(संकल्प) + (प्रभवान्) + (कामान्) +
(त्यक्त्वा)] [(संकल्प)-(प्रभव¹) 2/3वि]. कामान् (काम) 2/3.

1. समास के अन्त में अर्थ होता है : उत्पन्न होने वाला (घाटे : संस्कृत-हिन्दी
कोश).

त्यक्त्वा (त्यज्) पूकृ. सर्वाविशेषतः [(सर्वान्) + (अशेषतः)] सर्वान् (सर्वं) 2/3 वि. अशेषतः (अ) = पूर्णतया. मनसैवेन्द्रियग्रामं विनियम्य [(मनसा) + (एव) + (इन्द्रियग्रामम्) + (विनियम्य)] मनसा (मनस्) 3/1. एव (अ) = ही. इन्द्रियग्रामम् (इन्द्रियग्राम) 2/1. विनियम्य (विनि-यम्) पूकृ. समन्ततः (अ) = पूर्णतया.

84. शनैः शनैरुपरमेद्बुद्ध्या [(शनैः) + (शनैः) + (उपरमेत्) + (बुद्ध्या)] शनैः शनैः (अ) = धीरे धीरे उपरमेत् (उप-रम्) विधि 3/1 अक.

स्त्री

बुद्ध्या (बुद्धि) 3/1. धृतिगृहीतया [(धृति) - (ग्रह → गृहीत → गृहीता) भूकृ 3/1] आत्मसंस्थं मनः [(आत्मसंस्थम्) + (मनः)] आत्मसंस्थम् [(आत्मन् → आत्म) - (संस्थ) 2/1 वि]. मनः (मनस्) 2/1. कृत्वा (कृ) पूकृ. न (अ) = नहीं किञ्चिदपि [(किञ्चित्) + (अपि)] किञ्चित् (किम् + चित्¹) 1/1 सवि. अपि (अ) = भी. चिन्तयेत् (चिन्त्) विधि 3/1. सक.

85. यतो यतो निश्चरति [(यतः) + (यतः) + (निश्चरति)] यतः यतः (अ) = जिस जिस कारण से. निश्चरति (निश्चर्) व 3/1 सक. मनश्चञ्चलमस्थिरम् [(मनः) + (चञ्चलम्) + (अस्थिरम्)] मनः (मनस्) 1/1 चञ्चलम् (चञ्चल) 1/1 वि. अस्थिरम् (अस्थिर) 1/1 वि. ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव [(ततः) + (ततः) + (नियम्य) + (एतत्) + (आत्मनि) + (एव)] ततः ततः (अ) = उस उस जगह से. नियम्य (नि-यम्) पूकृ. [(एतत्) - (आत्मन्) 7/1] एव (अ) = ही. वशं नयेत् (वशं नी) विधि 3/1 सक.

2. किम् तथा किम् से उत्पन्न अन्य शब्दों में जुड़नेवाला अव्यय जिससे अर्थ में अनिश्चयात्मकता आती है।

86. युञ्जन्नेवं सदात्मानं योगी [(युञ्जन्) + (एवम्) + (सदा) + (आत्मानम्) + (योगी)] युञ्जन् (युञ्→युञ्जत्) वक्त्र 1/1. एवम् (अ) = इस प्रकार. सदा (अ) = निरन्तर. आत्मानम् (आत्मन्) 2/1. योगी (योगिन्) 1/1. विगतकल्मषः (विगतकल्मष) 1/1 वि. सुखेन (अ) = सरलतापूर्वक. ब्रह्मसंस्पर्शमत्यन्तं सुखमश्नुते [(ब्रह्मसंस्पर्शम्) + (अत्यन्तम्) + (सुखम्) + (अश्नुते)] ब्रह्मसंस्पर्शम् [(ब्रह्मन्→ब्रह्म) - (संस्पर्श)] 2/1]. अत्यन्तम् (अत्यन्त) 2/1 वि. सुखम् (सुख) 2/1. अश्नुते (अश्) व 3/1 सक.

87. सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि [(सर्वभूतस्थम्) + (आत्मानम्) + (सर्वभूतानि)] सर्वभूतस्थम् [(सर्व) वि-(भूत)-(स्थ) 2/1 वि]. आत्मानम् (आत्मन्) 2/1. सर्वभूतानि [(सर्व) वि-(भूत) 2/3]. आत्मनि [(च) + (आत्मनि)] च (अ) = और. आत्मनि (आत्मन्) 7/1. ईक्षते (ईक्ष्) व 3/1 सक. योगयुक्तात्मा [(योग) + (युक्त) + (आत्मा)] [(योग)-(युञ्→युक्त) भूकृ-(आत्मन्) 1/1] सर्वत्र (अ) = हर समय. समदर्शनः (समदर्शन) 1/1 वि.

88. सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थितः [(सर्वभूतस्थितम्) + (यः) + (माम्) + (भजति) + (एकत्वम्) + (आस्थितः)] सर्वभूतस्थितम् [(सर्व) वि-(भूत)-(स्था→स्थित) भूकृ 2/1]. यः (यत्) 1/1 सवि. माम् (अस्मद्) 2/1 स. भजति (भज्) व 3/1 सक. एकत्वम् (एकत्व) 2/1. आस्थितः (आ-स्था→आस्थित¹) भूकृ 1/1 सर्वथा (अ) = सब तरह से. वर्तमानोऽपि [(वर्तमानः) + (अपि)] वर्तमानः

1. वह कर्तृवाच्य में प्रयुक्त होता है ।

(वृत्→वर्तमान) वक्र 1/1. अपि (अ) = भा. स योगी [(सः) + (योगी)] सः (तत्) 1/1 सवि. योगी (योगिन्) 1/1. मयि (अस्मद्) 7/1. स वर्तते (वृत्) व 3/1 अक.

89. आत्मोपम्येन (आत्मोपम्य) 3/1 या [(आत्म) + (ओपम्येन)] [(आत्मन्→आत्म) — (ओपम्य) 3/1]. सर्वत्र (अ) = प्रत्येक स्थान पर (सत्र प्राणियों में) समं पश्यति [(समम्) + पश्यति] समम् (सम) 2/1. पश्यति (इश्) व 3/1 सक. योऽर्जुन [(यः) + (अर्जुन)] यः (यत्) 1/1 सवि. अर्जुन (अर्जुन) 8/1 सुखं वा [(सुखम्) + (वा)] सुखम् (सुख) 2/1. वा (अ) = और. यदि वा (अ) = या दुःखं स योगी [(दुःखम्) + (सः) + (योगी)] दुःखम् (दुःख) 2/1. सः (तत्) 1/1 सवि. योगी (योगिन्) 1/1. परमो मतः [(परमः) + (मतः)] परमः (परम) 1/1 वि. मतः (मन्→मत) भूकृ 1/1.

90. असंशयं महाबाहो [(असंशयम्) + (महाबाहो)] असंशयमम् (अ) = निश्चय ही. महाबाहो (महाबाहु) 8/1. मनो दुर्निग्रहं चलम् [(मनः) + (दुर्निग्रहम्) + (चलम्)] मनः (मनस्) 1/1 दुर्निग्रहम् (दुर्निग्रह) 1/1 वि. चलम् (चल) 1/1 वि. अभ्यासेन (अभ्यास) 3/1. तु (अ) = किन्तु. कौन्तेय (कौन्तेय) 8/1 वैराग्येण (वैराग्य) 3/1 च (अ) = और गृह्यते (ग्रह्) व कर्म 3/1 सक.

91. असंयतात्मना [(असंयत) + (आत्मना)] [(असंयत) वि—(आत्मन्) 3/1] योगो दुष्प्राप इति [(योगः) + (दुष्प्राप) + (इति)] योगः (योग) 1/1 दुष्प्रापः (दुष्प्राप) 1/1 वि. इति (अ) = इस प्रकार. मे (अस्मद्) 6/1 स. मतिः (मति) 1/1 वश्यात्मना [(वश्य) + (आत्मना)] [(वश्य) वि—(आत्मन्) 3/1] तु (अ) = किन्तु. यतता (यत्→यतत्) वक्र 3/1 शक्योऽवाप्तुमुपायतः [(शक्यः) + (अवाप्तुम्)

(उपायतः)] शक्यः (शक् → शक्य) विधिवत् 1/1. अत्रापुम् (अव—
आप् → अत्रापुम्) हेकृ. उपायतः (अ) = प्रयत्न से

92. मनुष्याणां सहस्रेषु [(मनुष्याणाम्) + (सहस्रेषु)] मनुष्याणाम्
(मनुष्य) 6/3. सहस्रेषु (सहस्र) 7/3. कश्चिद्यतति [(कश्चित्) +
(यतति)] कश्चित् [(कः + चित्] कःचित् (किम् + चित्¹) 1/1 सवि.
यतति (यत्) व 3/1. अक. सिद्धये (सिद्धि) 4/1 यततामपि
[(यतनाम्) + (अपि)] यतताम्² (यत् → यतत्) 6/3. अपि (अ) =
भी. सिद्धानां कश्चिन्नां वेत्ति [(सिद्धानाम्) + (कश्चित्) + (माम्)
+ (वेत्ति)] सिद्धानाम्² (सिद्ध) 6/3 वि. कश्चित् [(कः + चित्)]
कःचित्⁴ (किम् + चित्) 1/1 सवि. माम् (अस्मद्) 2/1 स. वेत्ति
(विद्) व 3/1 सक तत्त्वतः (अ) = वस्तुतः

93. त्रिभिर्गुणमयैर्भावैरेभिः [(त्रिभिः) + (गुणमयैः) + (भावैः) + (एभिः)]
त्रिभिः (त्रि) 3/3 वि. गुणमयैः (गुणमय) 3/3 वि. भावैः (भाव)
3/3. एभिः (एतत्) 3/3 सवि. सर्वमिवं जगत् [(सर्वम्) + (इदम्)
+ (जगत्)] सर्वम् (सर्व) 1/1 सवि. इदम् (इदम्) 1/1 सवि. जगत्
(जगत्) 1/1. मोहितं नाभिजानाति [(मोहितम्) + (न) + (अभि-
जानाति)] मोहितम् (मुह् → मोह्य् → मोहित) भूकृ 1/1. न (अ) = नहीं.
अभिजानाति (अभि-ज्ञा) व 3/1 सक. मामेभ्यः [(माम्) + (एभ्यः)]
माम् (अस्मद्) 2/1 स. एभ्यः (एतत्) 5/3 स. परमव्ययम् [(परम्)
+ (अव्ययम्)] परम् (पर) 2/1 वि. अव्ययम् (अव्यय) 2/1 वि.

1. 'चित्' अनिश्चित अर्थ को प्रकट करने के लिए जोड़ा जाता है ।

2. किसी समुदाय में से एक को छाँटने में जिसमें से छाँटा जाए उसमें षष्ठी या सप्तमी होती है ।

94. देवी (देवी) 1/1 वृषा [(हि) + (एषा)] हि (अ) = निश्चय ही.
स्त्री

एषा (एतत्) 1/1 सवि. गुणमयी (गुणमय → गुणमयी) 1/1 वि मम
स्त्री

(अस्मद्) 6/1 स माया (माया) 1/1 दुरत्यया (दुर्-अत्यय → दुर्-
अत्यया) 1/1 वि मामेव [(माम्) + (एव)] माम् (अस्मद्) 2/1 स.
एव (अ) = ही. ये (यत्) 1/3 स. प्रपद्यन्ते (प्र-पद्) व 3/3 सक
मायामेतां तरन्ति [(मायाम्) + (एताम्) + (तरन्ति)] मायाम्
(माया) 2/1. एताम् (एतत्) 2/1 सवि. तरन्ति (तृ) व 3/3 सक.
ते (तत्) 1/3 सवि.

95. न (अ) = नहीं मां दुष्कृतिनो मूढाः [(माम्) + (दुष्कृतिनः) +
(मूढाः)] माम् (अस्मद्) 2/1 स. दुष्कृतिनः (दुष्कृतिन्) 1/3 वि.
मूढाः (मूढ) 1/3 वि. प्रपद्यन्ते (प्र-पद्) व 3/1 सक नराधमाः
[(नर) + (अधमाः)] [(नर) — (अधम) 1/3 वि] माययापहृतज्ञाना
आसुरं भावमाश्रिताः [(मायया) + (अपहृत) + (ज्ञानाः) + (आसुरम्)
+ (भावम्) + (आश्रिताः)] मायया (माया) 3/1. [(अप-हृ →
अपहृत) भूकृ — (ज्ञान) 1/3] आसुरम् (आसुर) 2/1 वि. भावम्
(भाव) 2/1. आश्रिताः¹ (आ-श्रि → आश्रित) भूकृ 1/3.

96. चतुर्विधा भजन्ते [(चतुर्विधाः) + (भजन्ते)] चतुर्विधाः (चतुर्विध)
1/3 वि. भजन्ते (भज्) व 3/1 सक. मां जनाः [(माम्) + (जनाः)]
माम् (अस्मद्) 2/1 स जनाः (जन) 1/3. सुकृतिनोऽर्जुन [(सुकृ-
तिनः) + (अर्जुन)] सुकृतिनः (सु-कृतिन्) 1/3 वि. अर्जुन (अर्जुन)

1. कर्म के साथ कर्तृवाच्य में प्रयुक्त ।

8/1. आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी [(आर्तः) + (जिज्ञासुः) + (अर्थार्थी)]
 आर्तः (आर्त) 1/1 वि. जिज्ञासुः (जिज्ञासु) 1/1 वि. अर्थार्थी
 (अर्थार्थिन्) 1/1 वि. ज्ञानी (ज्ञानिन्) 1/1 वि च (अ) = और.
 भरतर्षभ [(भरत) + (ऋषभ)] . [(भरत) — (ऋषभ) 8/1]

97. तेषां ज्ञानी [(तेषाम्) + (ज्ञानी)] तेषाम् (तत्) 6/3 स. ज्ञानी (ज्ञानिन्)
 1/1 वि नित्ययुक्त एकभक्तिविशिष्यते [(नित्ययुक्तः) + (एकभक्तिः) +
 (विशिष्यते)] नित्ययुक्तः (नित्ययुक्त) 1/1 वि. एकभक्तिः [(एक)
 वि—(भक्ति) 1/1] विशिष्यते (वि—शिष्) व कर्म 3/1 सक.
 प्रियो हि [(प्रियः) + (हि)] प्रियः (प्रिय) 1/1 वि. हि (अ) =
 निश्चय ही. ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च [(ज्ञानिनः) + (अत्यर्थम्) +
 (अहम्) + (सः) + (च)] ज्ञानिनः (ज्ञानिन्) 6/1 वि. अत्यर्थम्
 (अ) = अत्यन्त. अहम् (अस्मद्) 1/1 स. सः (तत्) 1/1 सवि.
 च (अ) = और. मम (अस्मद्) 6/1 स. प्रियः (प्रिय) 1/1 वि.

98. बहूनां जन्मनामन्ते [(बहूनाम्) + (जन्मनाम्) + (अन्ते)] बहूनाम्
 (बहु) 6/3 वि. जन्मनाम् (जन्मन्) 6/3. अन्ते (अन्त) 7/1.
 ज्ञानवान्मां प्रपद्यते [(ज्ञानवान्) + (माम्) + (प्रपद्यते)] ज्ञानवान्.
 (ज्ञानवत्) 1/1 वि. माम् (अस्मद्) 2/1 स. प्रपद्यते (प्र—पद्) व 3/1
 सक. वासुदेवः (वासुदेव) 1/1 सर्वमिति [(सर्वम्) + (इति)] सर्वम्
 (सर्व) 1/1 सवि. इति (अ) = इस प्रकार. स महात्मा [(सः) +
 (महात्मा)] सः (तत्) 1/1 सवि. महात्मा (महात्मन्) 1/1 वि. सुदुर्लभः
 (सुदुर्लभ) 1/1 वि.

99. येषां त्वन्तगतं पापं जनानां पुण्यकर्मणाम् [(येषाम्) + (तु) + (अन्त-
 गतम्) + (पापम्) + (जनानाम्) + (पुण्यकर्मणाम्)] येषाम् (यत्) 6/3

स. तु (अ) = परन्तु अन्तगतम् (अन्तगत) 1/1 वि. पापम् (पाप) 1/1.
 जनानाम् (जन) 6/3. पुण्यकर्मणाम् (पुण्यकर्मन्) 6/3 वि ते (तत्) 1/3
 सवि द्वन्द्वमोहनिर्मुक्ता भजन्ते [(द्वन्द्वमोहनिर्मुक्ताः) + (भजन्ते)] द्वन्द्वमोह-
 निर्मुक्ताः [(द्वन्द्व) - (मोह) - (निस् - मुच् - निर्मुक्त) भूकृ 1/3] भजन्ते
 (भज्) व 3/3 सक. मां दृढव्रताः [(माम्) + (दृढव्रताः)] माम्
 (अस्मद्) 2/1 स. दृढव्रताः [[(दृढ) वि - (व्रत) 1/3] वि].

100. जरामरणमोक्षाय [(जरा) - (मरण) - (मोक्ष) 4/1] मामाश्रित्य
 [(माम्) + (आश्रित्य)] माम् (अस्मद्) 2/1 स. आश्रित्य (आ - श्रि →
 आश्रित्य) पूकृ. यतन्ति (यत्) व 3/3 अक ये (यत्) 1/3 सवि. ते
 (तत्) 1/3 सवि. ब्रह्म (ब्रह्मन्) 2/1 तद्विदुः [(तत्) + (विदुः)] तत्
 (तत्) 2/1 सवि. विदुः (विद्) व 3/3 सक. कृत्स्नमध्यात्मं कर्म
 [(कृत्स्नम्) + (अध्यात्मम्) + (कर्म)] कृत्स्नम् (कृत्स्न) 2/1 वि.
 अध्यात्मम् (अध्यात्म) 2/1 वि. कर्म (कर्मन्) 2/1 आखिलम् [(च) +
 (अखिलम्)] च (अ) = तथा अखिलम् (अखिल) 2/1 वि.

101. अन्तकाले (अन्तकाल) 7/1 च (अ) = और मामेव [(माम्) + (एव)]
 माम् (अस्मद्) 2/1 स. एव (अ) = ही. स्मरन्मुक्त्वा [(स्मरन्) +
 (मुक्त्वा)] स्मरन् (स्मृ → स्मरत्) वकृ 1/1. मुक्त्वा (मुच् → मुक्त्वा)
 पूकृ. कलेवरम् (कलेवर) 2/1 यः (यत्) 1/1 सवि प्रयाति (प्र - या)
 व 3/1 सक स मद्भावं याति [(स.) + (मद्भावम्) + (याति)] सः
 (तत्) 1/1 सवि. मद्भावम् (मद्भाव) 2/1. याति (या) व 3/1 सक.
 नास्त्यत्र [(न) + (अस्ति) + (अत्र)] न (अ) = नहीं. अस्ति (अस्)
 व 3/1 अक. अत्र (अ) = इसमें संशयः (संशय) 1/1.

02. यं यं वापि [(यम्) + (यम्) + (वापि)] यम् (यत्) 2/1 सवि. वापि

(अ) = अीर स्मरन्भावं त्यजत्यन्ते [(स्मरन्) + (भावम्) + (त्यजति) + (अन्ते)] स्मरन् (स्मृ → स्मरत्) वकृ 1/1. भावम् (भाव) 2/1. त्यजति (त्यज्) व 3/1 सक. अन्ते (अन्त) 7/1. कलेवरम् (कलेवर) 2/1 तं तमेवैति [(तम्) + (तम्) + (एव) + (एति)] तम् (तत्) 2/1 सवि. एव (अ) = ही. एति (इ) व 3/1 सक. कौन्तेय (कौन्तेय) 8/1 सदा (अ) = सदैव तद्भावभावित. [(तद्भावभावित) [(तद्भाव)-प्रे. (भू → भावय् → भावित) भूकृ 1/1].

103. अभ्यासयोगयुक्तेन [(अभ्यास) — (योग) — (युज् → युक्त) भूकृ 3/1. चेतसा (चेतस्) 3/1 नान्यर्गामिना [(न) + (अन्यर्गामिना)] न (अ) (अ) = नहीं. अन्यर्गामिना (अन्यर्गामिन्) 3/1 वि. परमं पुरुषं दिव्यं याति [(परमम्) + (पुरुषम्) + (दिव्यम्) + (याति)] परमम् (परम) 2/1 वि. पुरुषम् (पुरुष) 2/1. दिव्यम् (दिव्य) 2/1 वि. याति (या) व 3/1 सक. पार्थानुचिन्तयन् [(पार्थ) + (अनुचिन्तयन्)] पार्थ (पार्थ) 8/1. अनुचिन्तयन् (अनुचिन्त् → अनुचिन्तयत्) वकृ 1/1

104. प्रयाणकाले [(प्रयाण) — (काल) 7/1] मनसाच्चलेन [(मनसा) + (अचलेन)] मनसा (मनस्) 3/1. अचलेन (अचल) 3/1 वि. भक्त्य (भक्ति) 3/1 युक्तो योगबलेन [(युक्तः) + (योगबलेन) युक्तः (युज् — युक्त) भूकृ 1/1. योगबलेन (योगबल) 3/1 चैव [(च) + (एव)] च (अ) = तथा. एव (अ) = ही. भ्रुवोर्मध्ये [(भ्रुवोः) + (मध्ये)] भ्रुवोः (भ्रू) 6/2. मध्ये (मध्य) 7/1. प्राणमावेश्य [(प्राणम्) + (आवेश्य)] प्राणम् (प्राण) 2/1. आवेश्य (आ-विश् → आ-वेशय् — आवेशय) पूकृ. सम्पक् (अ) = पूरी तरह से. स तं परं पुरुषमुपैति [(सः

+ (तम्) + (परम्) + (पुरुषम्) + (उपैति)] सः (तत्) 1/1 सवि.
तम् (तत्) 2/1 सवि परम् (पर) 2/1 वि. पुरुषम् (पुरुष) 2/1.
उपैति (उप-इ) व 3/1 सक. दिव्यम् (दिव्य) 2/1.

105. सर्वद्वाराणि [(सर्व) वि-(द्वार) 2/3] संयम्य (संयम्) पूकृ. मनो
हृदि [(मनः) + (हृदि)] मनः (मनस्) 2/1. हृदि (हृद्) 7/1.
निरुध्य (नि-रुष्) पूकृ च (अ) = श्रीर मूर्धन्याषायात्मनः [(मूर्ध्नि) +
(आषाय) + (आत्मनः)] मूर्ध्नि (मूर्धन्) 7/1 आषाय (आ-षा) पूकृ.
आत्मनः (आत्मन्) 6/1. प्राणमास्थितो योगधारणाम् [(प्राणम्) +
(आस्थितः) + (योगधारणाम्)] प्राणम् (प्राण) 2/1. अस्थितः
(आ-स्था → आस्थित) भूकृ 1/1. योगधारणाम् [(योग) — (धारणा)
2/1]

106. ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म [(ओम्) + (इति) + (एकाक्षरम्) + (ब्रह्म)]
ओम् (अ) = ओम्. इति (अ) = शब्दस्वरूपद्योतक. एकाक्षरम् (एका-
क्षर) 2/1 वि. ब्रह्म (ब्रह्मन्) 2/1. व्याहरन्मामनुस्मरन् [(व्याहरन्)
+ (माम्) + (अनुस्मरन्)] व्याहरन् (व्या-हृ → व्याहरत्) वकृ 1/1.
माम् (अस्मद्) 2/1. अनुस्मरन् (अनु-स्मृ → अनुस्मरत्) वकृ 1/1
य (यत्) 1/1 सवि प्रयाति (प्र-या) व 3/1 सक त्यजन्देहं स याति
[(त्यजन्) + (देहम्) + (सः) + (याति)] त्यजन् (त्यज् → त्यजत्)
वकृ 1/1. देहम् (देह) 2/1. सः (तत्) 1/1 सवि. याति (या) व
स्त्री
3/1 सक. परमां गतिम् [(परमाम्) + (गतिम्)] परमाम् (परम →
परमा) 2/1 वि. गतिम् (गति) 2/1.

107. मामुपेत्य [(माम्) + (उपेत्य)] माम् (अस्मद्) 2/1 स. उपेत्य (उप-
इ → उप-इत्य → उपेत्य) पूकृ. पुनर्जन्म (पुनर्जन्मन्) 2/1 दुःखालयम-

शाश्वतम् [(दुःख) + (आलयम्) + (अशाश्वतम्)] [(दुःख)-(आलय)
2/1] अशाश्वतम् (अशाश्वत) 2/1 वि. नाप्नुवन्ति [(न) +
(आप्नुवन्ति)] न (अ) = नहीं. आप्नुवन्ति (आप्) व 3/3 सक.
महात्मनः (महात्मन्) 1/3 संसिद्धि परमां गताः [(संसिद्धिम्) +
(परमाम्) + (गताः)] संसिद्धिम् (संसिद्धि) 2/1. परमाम्
स्त्री
(परम→परमां) 2/1. गताः (गम्→गत) भूकृ 1/3.

108. पुरुषः (पुरुष) 1/1 स परः [(सः) + (परः)] सः (तत्) 1/1 सवि.
परः (पर) 1/1 वि. पार्थं (पार्थं) 8/1. भक्त्या (भक्ति) 3/1
लभ्यस्त्वनन्यया [(लभ्यः) + (तु) + (अनन्यया)] लभ्यः (लभ्य) 1/1

स्त्री

वि. तु (अ) = और. अनन्यया (अनन्य→अनन्या) 3/1 वि. यस्थान्तः-
स्थानि [(यस्य) + (अन्तःस्थानि)] यस्य (यत्) 6/1 स. अन्तःस्थानि
(अन्तःस्थ) 1/3 वि. भूतानि (भूत) 1/3 येन (यत्) 3/1 सवि
सर्वंमिदं ततम् [(सर्वम्) + (इदम्) + (ततम्)] सर्वम् (सर्वं) 1/1
वि. इदम् (इदम्) 1/1 सवि. ततम् (तन्→तत) भूकृ 1/1.

109. अश्रद्धानाः (अ-श्रद्-धा→अश्रद्-दधान→अश्रद्धान) वकृ 1/3.
पुरुषा धर्मस्यास्य [(पुरुषाः) + (धर्मस्य) + (अस्य)] पुरुषाः (पुरुष)
1/3. धर्मस्य¹ (धर्म) 6/1. अस्य¹ (इदम्) 6/1 स. परंतप (परंतप)
8/1 अप्राप्य (अ-प्र-आप्→अप्राप्य) पूकृ. मां निवर्तन्ते [(माम्) +
(निवर्तन्ते)] माम् (अस्मद्) 2/1 स. निवर्तन्ते (नि-वृत्) व 3/3
अक. मृत्युसंसारवर्त्मनि [(मृत्यु)-(संसार)-(वर्त्मन्) 7/1]

1 कृदन्त शब्दों के योग में कर्ता और कर्म में बन्धी होती है ।

110. सततं कीर्तयन्तो मां यतन्तश्च [(सततम्) + (कीर्तयन्तः) + (माम्) + (यतन्तः) + (च)] सततम् (अ) = सदा. कीर्तयन्तः (कीर्त् → कीर्तयत्) वक्त्र 1/3. माम् (अस्मद्) 2/1 स. यतन्तः (यत् → यतत्) वक्त्र 1/3. च (अ) = और. दृढव्रताः दृढव्रत) 1/3 वि नमस्यन्तश्च [(नमस्यन्तः) + (च)] नमस्यन्तः (नमस्य → नमस्यत्) वक्त्र 1/3. च (अ) = और. मां भक्त्या [(माम्) + (भक्त्या)] माम् (अस्मद्) 2/1 स. भक्त्या (क्रिविअ) = भक्तिपूर्वक. नित्ययुक्ता उपासते [(नित्य-युक्ताः + (उपासते)] नित्ययुक्ताः [(नित्य) वि-(युज् → युक्त) भूक्त्र 1/3. उपासते (उप-आस्) व 3/3 सक.

111. ज्ञानयज्ञेन [(ज्ञान) - (यज्ञ) 3/1] चाप्यन्ये [(च) - (अपि) + (अन्ये)] च (अ) = और अपि (अ) = भी. अन्ये 1/3 सवि. यजन्तो मामुपासते [(यजन्त) + (माम्) + (उपासते)] यजन्तः (यज् → यजत्) वक्त्र 1/3. माम् (अस्मद्) 2/1 स. उपासते (उप-आस्) व 3/3 सक. एकत्वेन (एकत्व) 1/1 पृथक्त्वेन (पृथक्त्व) 3/1 बहुधा (अ) = बहुत प्रकार से विश्वतोमुखम् (विश्वतोमुख) 2/1 वि.

112. अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये [(अ-न्याः) + (चिन्तयन्तः) + (माम्) + (ये)] अनन्याः (अनन्य) 1/3 वि. चिन्तयन्तः (चिन्त् → चिन्तयत्) वक्त्र 1/3. माम् (अस्मद्) 2/1 स. ये (यत्) 1/3 सवि. जनाः (जन) 1/3 पर्युपासते (पर्युप-आस्) व 3/3 सक तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम् [(तेषाम्) + (नित्याभियुक्तानाम्) + (योगक्षेमम्) + (वहामि) + (अहम्)] तेषाम् (युस्मद्) 6/3 स. नित्याभियुक्तानाम् [(नित्य) वि-(अभि-युज् → अभियुक्त) भूक्त्र 6/3]. योगक्षेमम् (योगक्षेम) 2/1. वहामि (वह्.) व 1/1 सक. अहम् (अस्मद्) 1/1 स.

113. पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे [(पत्रम्) + (पुष्पम्) + (फलम्) + (तोयम्) + (यः) + (मे)] पत्रम् (पत्र) 2/1. पुष्पम् (पुष्प) 2/1. फलम् (फल) 2/1. तोयम् (तोय) 2/1. यः (यत्) 1/1 सवि. मे (अस्मद्) 4/1. भक्त्या (क्रिविभ्र) = भक्तिपूर्वक प्रयच्छति (प्र-दाण् → यच्छ) व 3/1 सक तदहं भक्त्युपहृतमग्नामि [(तत्) + (अहम्) + (भक्ति) + (उपहृतम्) + (अग्नामि)] तत् (तत्) 2/1 स. अहम् (अस्मद्) 1/1 स. [(भक्ति)-(उप-हृ-→उपहृत) भूकृ 2/1]. अग्नामि (अश्) व 1/1 सक. प्रयत्नात्मनः [(प्रयत्) + (आत्मनः)] [(प्र-यम् → प्रयत्) भूकृ—(आत्मन्) 6/1].

114. यत्करोषि [(यत्) + (करोषि)] यत् (यत्) 2/1 सवि. करोषि (कृ) व 2/1 सक. यदग्नासि [(यत्) + (अग्नासि)] यत् (यत्) 2/1 सवि. अग्नासि (अश्) व 2/1 सक. यज्जुहोषि [(यत्) + (जुहोषि)] यत् (यत्) 2/1 सवि. जुहोषि (हु) व 2/1 सक. ददासि (दा) व 2/1 सक यत् (यत्) 2/1 सवि. यत्तपस्यसि [(यत्) + (तपस्यसि)] यत् (यत्) 2/1 तपस्यसि (तपस्य) व 2/1 सक. कौन्तेय (कौन्तेय) 8/1 तत्कुरुष्व [(तत्) + (कुरुष्व)] तत् (तत्) 2/1 सवि. कुरुष्व (कृ) आज्ञा 2/1 सक. मदर्पणम् (मदर्पण) 2/1

115. शुभाशुभफलैरेवं मोक्ष्यसे [(शुभ) + (अशुभ) + (फलैः) + (एवम्) + (मोक्ष्यसे)] [(शुभ)-(अशुभ)-(फल) 3/3] एवम् (अ) = इस प्रकार. मोक्ष्यसे¹ (मुञ्) भवि. कर्म 2/1 सक कर्मबन्धनैः [(कर्मन् → कर्म) — (बन्धन) 3/3] संन्यासयोगयुक्तात्मा [(संन्यास) + (योग) + (युक्त) + (आत्मा)] [(संन्यास) — (योग) — (युज् →

युक्त) भूक्—(आत्मन्) 1/1] विमुक्तो मामुपैष्यसि [(विमुक्तः) + (माम्) + (उपैष्यसि)] विमुक्तः (वि—मुच्→विमुक्त) भूक् 1/1. माम् (अस्मद्) 2/1 स. उपैष्यसि (उप-इ→उप-एष्यसि→उपैष्यसि) भवि 2/1 सक.

16. समोऽहं सर्वभूतेषु [(समः) + (अहम्) + (सर्वभूतेषु)] समः (सम) 1/1 वि. अहम् (अस्मद्) 1/1 स. सर्वभूतेषु [(सर्वं) वि-(भूत) 7/3]. न (अ) = नहीं मे (अस्मद्) 4/1 स द्वेष्योऽस्ति [(द्वेष्यः) + (अस्ति)] द्वेष्यः (द्वेष्य) 1/1 वि. अस्ति (अस्) व 3/1 अक. न (अ) = नहीं प्रियः (प्रिय) 1/1 वि ये (यत्) 1/3 सवि भजन्ति (भज्) व 3/3 सक तु (अ) = परन्तु मां भक्त्या [(माम्) + (भक्त्या)] माम् (अस्मद्) 2/1 स. भक्त्या (अ) = भक्तिपूर्वक. मयि (अस्मद्) 7/1 स ते (तत्) 1/3 सवि. तेषु (तत्) 7/3 स चाप्यहम् [(च) + (अपि) + (अहम्)] च (अ) = और. अपि (अ) = भी. अहम् (अस्मद्) 1/1 स.

17. अपि (अ) = भी चेतुदुराचारो भजते [(चेत्) + (सुदुराचारः) + (भजते)] चेत् (अ) = यदि. सुदुराचारः (सु-दुराचार) 1/1 वि. भजते (भज्) व 3/1 सक. मामनन्यभाक् [(माम्) + (अनन्य भाक्)] माम् (अस्मद्) 2/1 स. अनन्यभाक् (अनन्यभाज्¹) 1/1 वि. साधुरेव [(साधुः) + (एव)] साधुः (साधु) 1/1. एव (अ) = ही. स मन्तव्यः [(सः) + (मन्तव्यः)] सः (तत्) 1/1 सवि. मन्तव्यः (मन्→मन्तव्य) विधि कृ 1/1. सम्यग्व्यवसितो हि [(सम्यक्) +

1. 'भाज्' (वि) = प्रायः समास के अन्त में प्रयुक्त होता है ।

आष्टे : संस्कृत-हिन्दी कोश

(व्यवसितः) + (हि)] सम्यक् (अ) = उचित रूप से. व्यवसितः (वि-
अव-सो → व्यव-सित → व्यवसित) मूक 1/1. हि (अ) = क्योंकि. सः
(तत्) 1/1 सवि.

118. क्षिप्रं भवति [(क्षिप्रम्) + (भवति)] क्षिप्रम् (अ) = शीघ्र. भवति
(भू) व 3/1 अक. धर्मात्मा (धर्मात्मन्) 1// वि शश्वच्छान्ति
निगच्छति [(शश्वच्छान्तिम्) + (निगच्छति)] शश्वच्छान्तिम् [(शश्वत्)
+ (शान्तिम्)] शश्वत् (अ) = नित्य. शान्तिम् (शान्ति) 2/1.
निगच्छति (नि-गम्) व 3/1 सक. कौन्तेय (कौन्तेय) 8/1 प्रतिजानीहि
(प्रति-ज्ञा) आज्ञा 2/1 सक न (अ) = नहीं मे (अस्मद्) 6/1 स
भक्तः (भक्तः) 1/1. प्रणश्यति (प्र-नश्) व 3/1 अक.

119. मन्मना भव [(मन्मना-) + (भव)] मन्मनाः (मद् + मनस् =
मन्मनस्) 1/1 वि. भव (भू) आज्ञा 2/1 अक मद्भक्तो मद्याजी
[(मद्भक्तः) + (मद्याजी)] मद्भक्तः (मद्भक्त) 1/1 वि. मद्याजी
(मद् + याजिन्¹ = मद्याजिन्) 1/1 वि. मां नमस्कुरु [(माम्) +
(नमस्) + (कुरु)] माम् (अस्मद्) 2/1 स. नमस् (अ) = प्रणाम.
कुरु (कृ) आज्ञा 2/1 सक. मामेवैष्यसि [(माम्) + (एव) +
(एष्यसि)] माम् (अस्मद्) 2/1 स. एव (अ) = ही. एष्यसि (इ)
भवि 2/1 सक. युक्त्वैवमात्मानं मत्परायणः [(युक्त्वा) + (एवम्) +
(आत्मानम्) + (मत्परायणः)] युक्त्वा (युज् → युक्त्वा) पूक. एवम्
(अ) = इस प्रकार. आत्मानम् (आत्मन्) 2/1. मत्परायणः (मत्प-
रायण) 1/1 वि.

1. याजिन् (वि) = समास के अन्त में प्रयुक्त ।

120. अहमात्मा [(अहम्) + (आत्मा)] अहम् (अस्मद्) 1/1 स. आत्मा (आत्मन्) 1/1. गुडाकेश (गुडाकेश) 8/1 सर्वभूताशयस्थितः [(सर्वं) - (भूत) - (आशय) - (स्था → स्थित) भृक् 1/1] अहमादिश्च [(अहम्) + (आदिः) + (च)] अहम् (अस्मद्) 1/1 स. आदिः (आदि) 1/1. च (अ) = श्रीर. मध्यं च [(मध्यम्) + (च)] मध्यम् (मध्य) 1/1. भूतानामन्त एव [(भूतानाम्) + (अन्तः)] भूतानाम् (भूत) 6/3. अन्तः (अन्त) 1/1. एव (अ) = ही. च (अ) = श्रीर

121. मन्यसे (मन्) व 2/1 सक यदि (अ) = यदि तच्छक्यं मया [(तत्) + (शक्यम्) + (मया)] तत् (तत्) 1/1 सवि. शक्यम् (शक्य) 1/1 वि. मया (अस्मद्) 3/1 स. द्रष्टुमिति [(द्रष्टुम्) + (इति)] द्रष्टुम् (दृश्) हेक् कर्म. इति (अ) = इस प्रकार. प्रभो (प्रभु) 8/1 योगेश्वर (योगेश्वर) 8/1 ततो मे [(ततः) + (मे)] ततः (अ) = तो. मे (अस्मद्) 4/1 स. त्वं दर्शयात्मानमव्ययम् [(त्वम्) + (दर्शय) प्रे. + (आत्मानम्) + (अव्ययम्)] त्वम् (युष्मद्) 1/1 स. (दृश् → दर्शय → दर्शय) आज्ञा 2/1 सक. आत्मानम् (आत्मन्) 2/1 अव्ययम् (अव्यय) 2/1 वि.

122. न (अ) = नहीं. तु (अ) = परन्तु मां शक्यसे [(माम्) + (शक्यसे)] माम् (अस्मद्) 2/1 स. शक्यसे (शक्) व 2/1 अक. द्रष्टुमनेनैव [(द्रष्टुम्) + (अनेन) + (एव)] द्रष्टुम् (दृश्) हे.क. अनेन (इदम्) 3/1 स. एव (अ) = ही. स्वच्छक्षुषा [(स्व) - (चक्षुस्) 3/1] दिव्यं ददामि [(दिव्यम्) + (ददामि)] दिव्यम् (दिव्य) 2/1 वि. ददामि

1. इदम् = वर्तमान (भाष्ये : संस्कृत-हिन्दी कोश)

(दा) व 1/1 सक. ते (युष्मद्) 4/1 स. चक्षुः (चक्षुस्) 2/1 पश्य
(दृश्) आज्ञा 2/1 सक मे (अस्मद्) 6/1 स योगमेश्वरम् [(योगम्)
+ (ऐश्वरम्)] योगम् (योग) 2/1. ऐश्वरम् (ऐश्वर) 2/1.

123. विवि (दिव्) 7/1 सूर्यसहस्रस्य [(सूर्य)-(सहस्र) 6/1] भवेद्युग-
पदुत्थिता [(भवेत्) + (युगपत्) + (उत्थिता)] भवेत् (भू) विधि 3/1
अक. युगपत्(अ) = एक ही समय. उत्थिता (उद्-स्था → उद्-स्थित →
स्त्री
उत्थित → उत्थिता) भूकृ 1/1. यदि (अ) = यदि भाः (भास्) 1/1
स्त्री
सहस्री (सदृश → सदृशी) 1/1 वि सर्ग (तत्) 1/1 सवि स्याद्भासस्तस्य
[(स्यात्) + (भासः) + (तस्य)] स्यात् (अ) = शायद. भासः (भास्¹)
6/1. तस्य (तत्) 6/1 स. महात्मनः (महात्मन्) 6/1.

124. त्वमक्षरं परमं वेदितव्यं त्वमस्य [(त्वम्) + (अक्षरम्) + (परमम्) +
(वेदितव्यम्) + (त्वम्) + (अस्य)] त्वम् (युष्मद्) 1/1 स. अक्षरम्
(अक्षर) 1/1 वि. परमम् (परम) 1/1 वि. वेदितव्यम् (विद्) विधि
कृ 1/1. त्वम् (युष्मद्) 1/1 स. अस्य (इदम्) 6/1 स. विश्वस्य
6/1 परं निधानम् [(परम्) + (निधानम्)] परम् (पर) 1/1 वि.
निधानम् (निधान) 1/1. त्वमव्ययः [(त्वम्) + (अव्ययः)] त्वम्
(युष्मद्) 1/1 स. अव्ययः (अव्यय) 1/1 वि. शाश्वतधर्मगोप्ता
[(शाश्वत) वि—(धर्म)—(गोप्त्) 1/1 वि] सनातनस्त्वं पुरुषो मतो
मे [(सनातनः) + (त्वम्) + (पुरुषः) + (मतः) + (मे)] सनातनः
(सनातन) 1/1 वि. त्वम् (युष्मद्) 1/1 स. पुरुषः (पुरुष) 1/1. मतः
(मन् → मत) भूकृ 1/1 मे² (अस्मद्) 6/1 स.

1. 'भास्' (स्त्रीलिंग) = भाभा

2. कृदन्त (मतः) के योग में कर्ता (अस्मद्) में षष्ठी

125. भक्त्या (भक्ति) 3/1 त्वनन्यया [(तु) + (अनन्यया)] तु (अ) = परन्तु.

स्त्री

अनन्यया (अनन्य → अनन्या) 3/1 वि. शक्य ग्रहमेवंविधोऽर्जुन [(शक्यः) + (ग्रहम्) + (एवंविधः) + (अर्जुन)] शक्यः (शक्य) 1/1 वि. ग्रहम् (ग्रहस्मद्) 1/1 स. एवंविधः (एवंविध) 1/1 वि. अर्जुन (अर्जुन) 8/1. ज्ञातुं द्रष्टुं च [(ज्ञातुम्) + (द्रष्टुम्) + (च)] ज्ञातुम् (ज्ञा) हेकृ. द्रष्टुम् (इश्) हेकृ. च (अ) = और. तत्त्वेन (क्रिविअ) = वास्तव में. प्रवेष्टुं च [(प्रवेष्टुम्) + (च)] प्रवेष्टुम् (प्र-विष् → प्रवेष्टुम्) हेकृ. च (अ) = तथा परंतप (परंतप) 8/1.

126. मत्कर्मकृन्मत्परमो मद्भक्तः [(मत्कर्मकृत्) + (मत्परमः) + (मद्भक्तः)] मत्कर्मकृत् [(मत्कर्मन् → मत्कर्म) — (कृत्¹) 1/1 वि]. मत्परमः (मत्परम) 1/1 वि. मद्भक्तः (मद्भक्त) 1/1 वि. सङ्गवर्जितः [(सङ्ग) — (वृज् → वर्जित) भूकृ 1/1] निर्बैरः (निर्-वैर) 1/1 वि सर्वभूतेषु [(सर्व) — (भूत) 7/3] यः (यत्) 1/1 सवि. स मामेति [(सः) + (माम्) + (एति)] सः (तत्) 1/1 सवि. माम् (ग्रहस्मद्) 2/1 स. एति (इ) व 3/1 सकृ. पाण्डव (पाण्डव) 8/1.

127. एवं सततयुक्ता ये [(एवम्) + (सततयुक्ताः) + (ये)] एवम् (अ) = इस प्रकार. सततयुक्ताः [(सतत) वि- (युज् → युक्त) भूकृ 1/3] ये (यत्) 1/3 सवि. भक्तास्त्वां पर्युपासते [(भक्ताः) + (त्वाम्) + (पर्युपासते)] भक्ताः (भक्त) 1/3 त्वाम् (युष्मद्) 2/1 स. पर्युपासते (पर्युप-आस्) व 3/3 सक. ये (यत्) 1/3 सवि. चाप्यक्षरमव्यक्तं

1. कृत् (वि) : समास के अन्त में प्रयुक्त ।

तेषां के [(च) + (अपि) + (अक्षरम्) + (अव्यक्तम्) + (तेषाम्) + (के)] च (अ) = और. अपि (अ) = केवल. अक्षरम् (अक्षर) 2/1 वि. अव्यक्तम् 2/1 वि. तेषाम्¹ (तत्) 6/3 स. के (किम्) 1/3 सवि. योगवित्तमाः [(योग) - (विद् + तम = वित्तम) 1/3 वि]

128. मय्यावेश्य [(मयि) + (आवेश्य)] मयि (अस्मद्) 7/1. आवेश्य प्रे.

(आ—विश्→आवेश्य→आवेश्य) पूकृ. मनो ये. [(मनः) + (ये)] मनः (मनस्) 2/1. ये (यत्) 1/3 सवि. मां नित्ययुक्ता उपासते [(माम्) + (नित्ययुक्ताः) + (उपासते)] माम् (अस्मद्) 2/1 स. नित्ययुक्ताः [(नित्य) वि—(युज्→युक्त) भूकृ 1/3]. उपासते (उप—आस्) व 3/3 सक. श्रद्धया (श्रद्धा) 3/1 परयोपेतास्ते [(परया) + (उपेता.) + (ते)] परया (पर→परा) 3/1 वि. उपेताः (उपेत) 1/3 वि. ते (तत्) 1/3 सवि. मे (अस्मद्) 6/1 स. युक्ततमा मताः [(युक्ततमाः) + (मताः)] युक्ततमाः (युक्ततमा) 1/3 वि. मताः (मन्→मत) भूकृ 1/3.

29. ये (यत्) 1/3 सवि त्वक्षरमनिर्देश्यमव्यक्तं पर्युपासते [(तु) + (अक्षरम्) + (अनिर्देश्यम्) + (अव्यक्तम्) + (पर्युपासते)] तु (अ) = और. अक्षरम् (अक्षर) 2/1 वि. अनिर्देश्यम् (अनिर्देश्य) 2/1 वि. अव्यक्तम् (अव्यक्त) 2/1 वि. पर्युपासते (पर्युप—आस्) व 3/3 सक. सर्वत्रगमचिन्त्यं च [(सर्वत्रगम्) + (अचिन्त्यम्) + (च)] सर्वत्रगम् (सर्वत्रग)

1. समुदाय में से एक के छाँटने में, जिसमें से छाँटा जाए उसमें बन्धी या सप्तमी होती है।

2/1 वि. अचिन्त्यम् (अचिन्त्य) 2/1 वि. च (अ) = श्रीर. कूटस्थमचलं
 ध्रुवम् [(कूटस्थम्) + (अचलम्) + (ध्रुवम्)] कूटस्थम् (कूटस्थ)
 2/1 वि. अचलम् (अचल) 2/1 वि. ध्रुवम् (ध्रुव) 2/1 वि.

130. संनियम्येन्द्रियग्रामं सर्वत्र [(संनियम्य) + (इन्द्रियग्रामम्) + (सर्वत्र)]
 संनियम्य (संनि-यम्) पूकृ. इन्द्रियग्रामम् (इन्द्रियग्राम) 2/1. सर्वत्र
 (अ) = हर समय. समबुद्धयः (समबुद्धि) 1/3 वि. ते (तत्) 1/3
 सवि प्राप्नुवन्ति (प्र-आप्) व 3/3 सक. मामेव [(माम्) + (एव)]
 माम् (अस्मद्) 2/1 स. एव (अ) = ही. सर्वभूतहिते [(सर्वं) - (भूत)
 - (हित) 7/1] रताः (रम् → रत) भूकृ 1/3.

131. क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम् [(क्लेशः) + (अधिकतरः) +
 (तेषाम्) + (अव्यक्त) + (आसक्त) + (चेतसाम्)] क्लेशः (क्लेश)
 1/1. अधिकतरः (अधिकतर) 1/1 वि. तेषाम् (तत्) 6/3 स.
 [(अव्यक्त) वि- (आ-सञ्ज् → आसक्त). भूकृ- (चेतस्) 6/3] अव्यक्ता
 स्त्री

(अव्यक्त → अव्यक्ता) 1/1 वि हि (अ) = क्योकि. गतिदुःखं देहवद्भिर्भर-
 वाप्यते [(गतिः) + (दुःखम्) + (देहवद्भिः) + (अवाप्यते)] गतिः
 1/1. दुःखम् (क्रिविअ) = कठिनाई से. देहवद्भिः (देहवत्) 3/3.

कर्म

अवाप्यते (अव-आप् → अवाप्य) व कर्म 3/1 सक.

132. मय्येव [(मयि) + (एव)] मयि (अस्मद्) 7/3 स. एव (अ) = ही
 मन आघत्स्व [(मनः) + (आघत्स्व)] मनः (मनस्) 2/1. आघत्स्व
 (आ-घा) आज्ञा 2/1 सक. बुद्धि निवेशय [(बुद्धिम्) + (निवेशय)]

बुद्धिम् (बुद्धि) 2/1. निवेशय (नि-विश् → निवेशय) प्रे. ग्राज्ञा 2/1 सक. निवसिष्यसि (नि-वस्) भवि 2/1 अक. मय्येव [(मयि) + (एव)] मयि (अस्मद्) 7/1 स. एव (अ) = ही. अत उर्ध्वं न [(अत ऊर्ध्वम्) + (न)] अतऊर्ध्वम् (अ) = इसके पश्चात् न (अ) = नहीं. संशय (संशय) 1/1

133. अथ (अ) = यदि. चित्तं समाधातुं न [(चित्तम्) + (समाधातुम्) + (न)] चित्तम् (चित्त) 2/1. समाधातुम् (समा-धा) हेकृ. न (अ) = नहीं. शक्नोषि (शक्) व 2/1 सक मयि (अस्मद्) 7/1 स्थिरम् (स्थिर) 2/1 वि. अभ्यासयोगेन [(अभ्यास)-(योग) 3/1] ततो मामिच्छाप्तुं धनंजय [(ततः) † (माम्) + (इच्छ) + (आप्तुम्) + (धनंजय)] ततः (अ) = तो. माम् (अस्मद्) 2/1 स. इच्छ (इष्) ग्राज्ञा 2/1 सक. आप्तुम् (आप्) हेकृ. धनंजय (धनंजय) 8/1.

134. अभ्यासेष्यसमर्षोऽसि [(अभ्यासे) + (पि) + (असमर्षः) + (अति)] अभ्यासे (अभ्यास) 7/1. पि२ (अ) = भी. असमर्षः (असमर्ष) 1/1 वि. असि (अस्) व 2/1 अक. मत्कर्मपरमो भव [(मत्कर्म) + (परमः) + (भव)] [(मत्कर्मन् → मत्कर्म) — (परम) 1/1 वि] भव (भू) ग्राज्ञा 2/1 अक. मदर्थमपि [(मदर्थम्) + (अपि)] मदर्थम् (अ) = मेरे लिए. अपि (अ) = भी. कर्मणि (कर्मन्) 2/3. कुर्वन्सिद्धि-मवाप्स्यसि [(कुर्वन्) + (सिद्धिम्) + (अवाप्स्यसि)] कुर्वन् (कृ → कुर्वन्त्) वकृ 1/1. सिद्धिम् (सिद्धि) 2/1. अवाप्स्यसि (अव-आप्) भवि 2/1 सक.

1. स्थिर (वि) = अदातु

2. पि = अपि (कई बार 'अ' का जोप हो जाता है।)

घाटे : हिन्दी-संस्कृत कोश ।

135. अथैतदव्यशक्तोऽसि [(अथ) + (एतत्) + (अपि) + (अशक्तः) + (असि)] अथ (अ) = यदि. एतत् (एतत्) 2/1 सवि. अपि (अ) = भी. अशक्तः (अशक् → अशक्त) भूकृ 1/1. असि (अस्) व 2/1 अक. कर्तुं मद्योगमाश्रितः [(कर्तुम्) + (मद्योगम्) + (आश्रितः)] कर्तुम् (कृ → कर्तुम्) हेकृ. मद्योगम् (मद्-योग) 2/1. आश्रितः (आ-श्रि → आश्रित¹) भूकृ 1/1. सर्वकर्मफलत्यागं ततः [(सर्वकर्मफलत्यागम्) + (ततः)] सर्वकर्मफलत्यागम् [(सर्वं) वि-(कर्मन् → कर्म)-(फल)-(त्याग) 2/1]. ततः (अ) = तो. कुरु (कृ) आज्ञा 2/1 सक. यतारम्भवान् [(यत्) + (आत्मवान्)] [(यम् → यत्) भूकृ-(आत्मवत्²) 1/1 वि].
136. अद्वेष्टा (अद्वेष्ट) 1/1 वि सर्वभूतानां मैत्रः [(सर्वभूतानाम्) + (मैत्रः)] सर्वभूतानाम् [(सर्वं) वि-(भूत) 6/3]. मैत्रः (मैत्र) 1/1 वि. करुण एव [(करुणः) + (एव)] करुणः (करुण) 1/1 वि. एव (अ) = ही. च (अ) = और निर्ममो निरहंकार [(निर्ममः) + (निरहंकारः)] निर्ममः (निर्मम) 1/1 वि. निरहंकारः (निरहंकार) 1/1 वि. समदुःखसुखः (समदुःखसुख) 1/1 वि क्षमी (क्षमिन्) 1/1 वि.
137. संतुष्टः (संतुष् → संतुष्ट) भूकृ 1/1 सततं योगी [(सततम्) + (योगी)] सततम् (अ) = सदा. योगी (योगिन्) 1/1 वि. यतारम्भान् (यतारम्भान्) 1/1 वि दृढनिश्चयः (दृढनिश्चय) 1/1 वि. मय्यपित्तमनोबुद्धिर्यो मद्भक्तः [(मयि) + (अपित्तमनोबुद्धिः) + (यः)] मयि (अस्मद्) 7/1 स. अपित्तमनोबुद्धिः (अपित्तमनोबुद्धि) 1/1 वि. यः

1. 'कर्म' के साथ कर्तुं वाच्य में प्रयुक्त होता है ।

(आप्टे, सं. हि. कोश) 2. आत्मवत् (वि) = शान्त

(यत्) 1/1 सवि. मद्भक्तः (मद्भक्त) 1/1. स मे [(सः) + (मे)]
सः (तत्) 1/1 सवि. मे (अस्मद्) 4/1 स. प्रियः (प्रिय) 1/1 वि.

138. यस्मान्नोद्विजते [(यस्मात्) + (न) + (उद्विजते)] यस्मात् (अ) =
जिससे. न (अ) = नहीं. उद्विजते (उद्-विज्) व 3/1 अक. लोको
लोकान्नोद्विजते [(लोकः) + (लोकात्) + (न) + (उद्विजते)] लोकः
(लोक) 1/1. लोकात् (लोक) 5/1. न (अ) = नहीं. उद्विजते (उद्-
विज्) व 3/1 अक. च (अ) = और यः (यत्) 1/1 सवि. हर्षामर्ष-
भयोद्वेगैर्भुक्तो यः [(हर्षं) + (अमर्षं) + (भय) + (उद्वेगैः) + (मुक्तः)
+ (यः)] [(हर्षं) - (अमर्षं) - (भय) - (उद्वेग) 3/3] मुक्तः (मुच् →
मुक्त) भूक् 1/1. यः (यत्) 1/1 सवि. स च [(सः) + (च)] सः
(तत्) 1/1 वि. च (अ) = और. मे (अस्मद्) 4/1 स. प्रियः (प्रिय)
1/1 वि.

139. अनपेक्षः (अनपेक्ष) 1/1 वि शुचिर्दक्ष उदासीनो गतव्यथः [(शुचिः)
+ (दक्षः) + (उदासीनः) + (गतव्यथः)] शुचिः (शुचि) 1/1 वि.
दक्षः (दक्ष) 1/1 वि. उदासीनः (उदामीन) 1/1 वि. गतव्यथः (गत-
व्यथ) 1/1 वि. सर्वारम्भपरित्यागी [(सर्वं) वि- (आरम्भ) - (परि-
त्यागिन्) 1/1 वि] यो मद्भक्तः [(यः) + (मद्भक्तः)] यः (यत्)
1/1 सवि. मद्भक्तः (मद्भक्त) 1/1 स मे [(सः) + (मे)] सः (तत्)
1/1 सवि. मे (अस्मद्) 4/1 स. प्रियः (प्रिय) 1/1 वि.

140. यो न [(यः) + (न)] यः (यत्) 1/1 सवि. न (अ) = नहीं. हृष्यति
(हृष्) व 3/1 अक न (अ) = नहीं द्वेष्टि (द्विष्) व 3/1 सक न
(अ) = नहीं शोचति (शुच्) व 3/1 अक न (अ) = नहीं. काङ्क्षति
(काङ्क्ष) व 3/1 सक शुभाशुभपरित्यागी [(शुभ) + (अशुभ) + (परि-

त्यागी)] [(शुभ) वि—(अशुभ) वि—(परित्यागिन्) 1/1 वि]
 भक्तिमान्यः [(भक्तिमान्) + (यः)] भक्तिमान् (भक्तिमत्) 1/1 वि.
 यः (यत्) 1/1 सवि. स मे [(सः) + (मे)] सः (तत्) 1/1 सवि.
 मे (अस्मद्) 4/1 स. प्रियः (प्रिय) 1/1 वि.

41. समः (सम) 1/1 वि शत्रौ (शत्रु) 7/1 च (अ) = अोर मित्रे (मित्र)
 7/1 च तथा (अ) = तथा मानावमानयोः [(मान) + (अवमानयोः)]
 [(मान) - (अवमान) 7/2] शीतोष्णसुखदुःखेषु [(शीत) + (उष्ण)
 (सुख) + (दुःखेषु)] [(शीत) - (उष्ण) - (सुख) - (दुःख) 7/3] समः
 (सम) 1/1 वि सङ्गविर्वाजितः [(सङ्ग) - (विवृज् → वि - वर्जित)
 भूक् 1/1]

142. तुल्यनिन्दास्तुतिर्मौनी [(तुल्य) + (निन्दा) + (स्तुतिः) + (मौनी)]
 [(तुल्य) वि—(निन्दा) - (स्तुति) 1/1]. मौनी (मौनिन्) 1/1 वि.
 संतुष्टो येन केनचित् [(संतुष्टः) + (येन केनचित्)] संतुष्टः (संतुष्)
 भूक् 1/1. येन केनचित् (अ) = जिस किसी से. अनिकेतः (अनिकेत)
 1/1 वि. स्थिरमतिर्भक्तिमान्मे [(स्थिरमतिः) + (भक्तिमान्) +
 (मे)] स्थिरमतिः (स्थिरमति) 1/1 वि. भक्तिमान् (भक्तिमत्) 1/1
 वि. मे (अस्मद्) 4/1 स. प्रियो नरः [(प्रियः) + (नरः)] प्रियः
 (प्रिय) 1/1 वि. नरः (नर) 1/1.

143. अमानित्वमदम्भित्वमर्हिंसा [(अमानित्वम्) + (अदम्भित्वम्) +
 (अर्हिंसा)] अमानित्वम् (अमानित्व) 1/1. अर्हिंसा (अर्हिंसा)] 1/1.
 क्षान्तिराजं वम् [(क्षान्तिः) + (आजं वम्)] क्षान्तिः (क्षान्ति) 1/1.
 आजं वम् (आजं व) 1/1. आचार्योपासनं शौचं स्थैर्यमात्मविनिग्रहः
 [(आचार्यं) + (उपासनम्) + (शौचम्) + (स्थैर्यम्) + (आत्मविनिग्रहः)]

[(आचार्य) — (उपासन) 1/1]. शौचम् (शौच) 1/1. स्थैर्यम् (स्थैर्य) 1/1. आत्मविनिग्रहः [(आत्मन् → आत्म) — (विनिग्रह) 1/1]

144. इन्द्रियाथेषु [(इन्द्रिय) + (अथेषु)]. [(इन्द्रिय) — (अथ) 7/3] वैराग्यमनहंकार एव च [(वैराग्यम्) + (अनहंकारः) + (एव च)] वैराग्यम् (वैराग्य) 1/1. अनहंकारः (अन्-अहंकार → अनहंकार) एव च (अ) = और जन्ममृत्युजराव्याधिदुःखदोषानुदर्शनम् [(जन्ममृत्यु-जराव्याधिदुःखदोष) + (अनुदर्शनम्)] [(जन्म) — (मृत्यु) — (जरा) — (व्याधि) — (दुःख) — (दोष) — अनुदर्शन) 1/1].

145. असक्तिरभिश्वङ्गः [(असक्तिः) + (अभिश्वङ्गः)] असक्तिः (असक्ति) 1/1. अभिश्वङ्गः (अन्-अभिश्वङ्ग) 1/1. पुत्रदारगृहादिषु [(पुत्र)-(दार)-(गृहादि) 7/3] नित्यं च [(नित्यम्) + (च)] नित्यम् (नित्य) 1/1. वि. च (अ) = और. समचित्तत्वमिष्टानिष्टोपपत्तिषु [(सम) + (चित्तत्वम्) + (इष्ट) + (अनिष्ट) + (उपपत्तिषु)] [(सम) वि — (चित्तत्व) 1/1]. [(इष्ट) वि — (अनिष्ट) वि — (उपपत्ति) 7/3]

46. मयि (अस्मद्) 7/1 स ज्ञानन्ययोगेन [(च) + (अनन्ययोगेन)] च (अ) = और. अनन्ययोगेन [(अनन्य) वि — (योग) 3/1]. भक्तिरव्यभिचारिणी [(भक्तिः) + (अव्यभिचारिणी)] भक्तिः (भक्ति) 1/1. अव्यभिचारिणी (अव्यभिचारिन् → अव्यभिचारिणी) 1/1. वि विविक्तदेशसेवित्वमरतिजनसंसदि [(विविक्तदेशसेवित्वम्) + (अरतिः) + (जनसंसदि) विविक्तदेशमेवित्वम् [(वि-विच् → विविक्त) भूकृ — (देश) — (सेवित्व) 1/1]. अरतिः (अरति) 1/1. जनसंसदि [(जन) — (संसद्) 7/1].

147. अघ्यात्मज्ञाननित्यत्वं तत्त्वज्ञानार्थदर्शनम् [(अघ्यात्मज्ञाननित्यत्वम्) + (तत्त्व) + (ज्ञान) + (अर्थ) + (दर्शनम्) अघ्यात्मज्ञाननित्यत्वम् [(अघ्यात्म)—(ज्ञान)—(नित्यत्व) 1/1]. [(तत्त्व)—(ज्ञान)—(अर्थ)—(दर्शन) 1/1]. एतच्छानमिति [(एतत्) + (ज्ञानम्) + (इति)] एतत् (एतत्) 1/1 सवि. ज्ञानम् (ज्ञान) 1/1. इति (अ) = समूह बोधक. प्रोक्तमज्ञानं यदतोऽन्यथा [(प्रोक्तम्) + (अज्ञानम्) + (यत्) + (अतः) + (अन्यथा)] प्रोक्तम् (प्र-वच् → प्र-उक्त → प्रोक्त) भूकृ 1/1. अज्ञानम् (अज्ञान) 1/1. यत् (यत्) 1/1 सवि. अतः (अ) = इसलिए. अन्यथा (अ) = इसके विपरीत.

148. ध्यानेनात्मनि [(ध्यानेन) + (आत्मनि)] ध्यानेन (ध्यान) 3/1. आत्मनि (आत्मन्) 7/1. पश्यन्ति (इच्) व 3/3 सक. केचिदात्मानमात्मना [(केचित्) + (आत्मानम्) + (आत्मना)] केचित् (किम्-चित्) 1/3 स. आत्मानम् (आत्मन्) 2/1. आत्मना (आत्मन्) 3/1. अन्ये (अन्य) 1/3 सवि. सांख्येन (सांख्य) 3/1 योगेन (योग) 3/1 कर्मयोगेन (कर्मयोग) 3/1 चापरे [(च) + (अपरे)] च (अ) = प्रौर. अपरे (अपर) 1/3 वि.

149. अन्ये (अन्य) 1/3 सवि त्वेवमजानन्तः [(तु) + (एवम्) + (अजानन्तः)] तु (अ) = किन्तु. एवम् (अ) = इस प्रकार. अजानन्तः (अ-ज्ञा → अ-जानत्) वकृ 1/3. श्रुत्वान्येभ्य उपासते [(श्रुत्वा) + (अन्येभ्यः) + (उपासते)] श्रुत्वा (श्रु) पूकृ. अन्येभ्यः (अन्य) 5/3 सवि. उपासते (उप-प्रास्) व 3/3 सक. तेऽपि [(ते) + (अपि)] ते (तत्) 1/3 सवि. अपि (अ) = भी. चातितरन्त्येव [(च) + (अतितरन्ति) + (एव)] च (अ) = प्रौर. अतितरन्ति (अति-तृ) व 3/3 सक. एव (अ) =

निस्सन्देह. मृत्युं श्रुतिपरायणाः [(मृत्युम्) + (श्रुतिपरायणाः)] मृत्युम्
(मृत्यु) 2/1. श्रुतिपरायणाः [(श्रुति) — (परायणा¹) 1/3 वि]

150. सत्त्वं रजस्तम इति [सत्त्वम्) + (रजः) + (तमः) + (इति)] सत्त्वम्
(सत्त्व) 1/1. रजः (रजस्) 1/1 तमः (तमस्) 1/1. इति (अ) =
इस प्रकार. गुणाः (गुण) 1/3. प्रकृतिसंभवाः [(प्रकृति) — (संभव²)
1/3 वि] निबद्धन्ति (नि-बन्ध्) व 3/3 सक महाबाहो (महाबाहु)
8/1 देहे (देहे) 7/1 देहिनमव्ययम् [(देहिनम्) + (अव्ययम्)] देहिनम्
(देहिन) 2/1. अव्ययम् (अव्यय) 2/1.

151. सर्वद्वारेषु [(सर्व) वि—(द्वार) 7/3] देहेऽस्मिन्प्रकाश उपजायते
[(देहे) + (अस्मिन्) + (प्रकाशः) + (उपजायते)] देहे (देहे) 7/1.
अस्मिन् (इदम्) 7/1 सवि प्रकाशः (प्रकाश) 1/1. उपजायते (उप
—जन्) व 3/1 अक. ज्ञानं यदा तदा [(ज्ञानम्) + (यदातदा)]
ज्ञानम् (ज्ञान) 1/1. यदा तदा (अ) = जब कभी विद्याद्विवृद्धं सत्त्वमित्युत
[(विद्यात्) + (विवृद्धम्) + (सत्त्वम्) + (इति) + (उत)] विद्यात्
(विद्) विधि 3/1 सक. विवृद्धम् (वि-वृध् → विवृद्ध) भूकृ 1/1.
सत्त्वम् (सत्त्व) 1/1. इति (अ) = इस तरह. उत (अ) = और.

152. लोभः (लोभ) 1/1. प्रवृत्तिरारम्भः [(प्रवृत्तिः) + (आरम्भः)]
प्रवृत्तिः (प्रवृत्ति) 1/1. आरम्भः (आरम्भ) 1/1. कर्मणामशमः
[(कर्मणाम्) + (अशमः)] कर्मणाम् (कर्मन्) 6/3. अशमः (अ-

-
1. परायण (वि) : समास के अन्त में प्रयुक्त होने पर इसका अर्थ होता है आश्रित आदि
(भाटे, सं. हि. कोश)
 2. समास के अन्त में अर्थ होता है : उत्पन्न ।

शम) 1/1. स्पृहा (स्पृहा) 1/1 रजस्येतानि [(रजसि) + (एतानि)]
 रजसि (रजस्) 7/1. एतानि (एतत्) 1/3 सवि. जायन्ते (जन्) व
 3/3 अक विबृद्धे (वि-वृष्→विबृद्ध) भूकृ 7/1 भरतर्षभ [(भरत) +
 (ऋषभ)] [(भरत)-(ऋषभ) 8/1]

153. अप्रकाशोऽप्रवृत्तिश्च [(अप्रकाशः) + (अप्रवृत्तिः) + (च)] अप्रकाशः
 (अप्रकाश) 1/1. अप्रवृत्तिः (अप्रवृत्ति) 1/1. च (अ)=और. प्रमादो
 मोह एव च [(प्रमादः)+(मोहः)+(एव च)] प्रमादः (प्रमाद) 1/1.
 मोहः (मोह) 1/1. एव च (अ)=तथा. तमस्येतानि [(तमसि) +
 (एतानि)] तमसि (तमस्) 7/1. एतानि (एतत्) 1/3 सवि. जायन्ते
 (जन्) व 3/3 अक विबृद्धे (वि-वृष्→वि-वृद्ध) भूकृ 7/1 कुरुनन्दन
 (कुरुनन्दन) 8/1.

154. नान्यं गुणोभ्यः [(न) + (अन्यम्) + (गुणोभ्यः)] न(अ)=नहीं अन्यम्
 (अन्य) 2/1 सवि. गुणोभ्यः (गुण) 5/3. कर्तारं यदा [(कर्तारम्)
 + (यदा)] कर्तारम् (कर्तृ) 2/1 वि. यदा(अ)=जब. द्रष्टानुपश्यति
 [(द्रष्टा) + (अनुपश्यति)] द्रष्टा (द्रष्टृ) 1/1. अनुपश्यति (अनु-इत्)
 व 3/1 सक. गुणोभ्यश्च [(गुणोभ्यः) + (च)] गुणोभ्यः (गुण) 5/3.
 च (अ)=और. परं वेत्ति [(परम्) + (वेत्ति)] परम् (पर) 2/1 वि.

1. भिन्न अथवा प्रतिरिक्त अर्थ बोधक 'अन्य', 'पर' के योग में पंचमी विभक्ति होती है ।

वेत्ति (विद्) व 3/1 सक. मद्भावं सोऽधिगच्छति [(मद्भावम्) + (सः) + (अधिगच्छति)] मद्भावम् (मद्भाव) 2/1. सः (तत्) 1/1 सवि. अधिगच्छति (अधि-गम्) व 3/1 सक.

155. गुणानेतानतीत्य [(गुणान्) + (एतान्) + (अतीत्य)] गुणान् (गुण) 2/3. एतान् (एतत्) 2/3 सवि. अतीत्य (अति-इ→अति-इत्य→अतीत्य) पूकृ. त्रीन्वेही [(त्रीन्) + (देही)] त्रीन् (त्रि) 2/3 वि. देही (देहिन्) 1/1. वेहसमुद्भवान् [(देह) — (समुद्भव¹)] 2/3 वि] जन्ममृत्युजरादुःखैर्विमुक्तोऽमृतमश्नुते [(जन्ममृत्युजरादुःखैः) + (विमुक्तः) + (अमृतम्) + (अश्नुते)] जन्ममृत्युजरादुःखैः [(जन्म) — (मृत्यु) — (जरा) — (दुःख) 3/3] विमुक्तः (वि—मुच्→विमुक्त) भूकृ 1/1. अमृतम् (अमृत) 2/1. अश्नुते (अश्) व 3/1 सक.

156. समदुःखसुखः [[(सम) वि—(दुःख)—(सुख) 1/1] वि] स्वस्थः (स्वस्थ) 1/1 वि. समलोष्टाश्मकाञ्चनः [(सम) + (लोष्ट) + (अश्म) + (काञ्चनः)] [[(सम) वि—(लोष्ट)—(अश्मन्→अश्म)—(काञ्चन) 1/1] वि] तुल्य-प्रियाप्रियो धीरस्तुल्यनिन्दात्मसंस्तुतिः [(तुल्य) + (प्रिय) + (अप्रियः) + (धीरः) + (तुल्य) + (निन्दा) + (आत्म) + (संस्तुतिः)] [[(तुल्य) वि—(प्रिय)—(अप्रिय) 1/1] वि] धीरः (धीर) 1/1 वि [[(तुल्य) वि—(निन्दा) — (आत्मन्→आत्म)—(संस्तुति) 1/1] वि]

157. मानावमानयोस्तुल्यस्तुल्यो मित्रारिपक्षयोः [(मान) + (अवमानयोः)] + (तुल्यः) + (तुल्यः) + (मित्र)—(अरि) + (पक्षयोः)] [(मान) —

1. समास के अन्त में इसका अर्थ होता है 'उत्पन्न, जन्म लेते हुए आदि ।

(आपटे : संस्कृत-हिन्दी कोश)

(अप्रमान) 7/2] तुल्यः (तुल्य) 1/1 वि. तुल्यः (तुल्य) 1/1 वि.
 [(मित्र)-(अरि)-(पक्ष) 7/2]. सर्वारम्भपरित्यागी [(सर्वं) +
 (आरम्भ) + (परित्यागी)] [(सर्वं) वि-(आरम्भ)-(परित्यागिन्) 1/1
 वि]. गुणातीतः [(गुण) + (अतीतः)] [(गुण)-(अतीत) 1/1 वि]
 स उच्यते [(सः) + (उच्यते)] सः (तत्) 1/1 सवि. उच्यते (वच्→
 उच्यते) व कर्म 3/1 सक.

158. मां च [(माम्) + (च)] माम् (अस्मद्) 2/1 स. च (अ) = अौर.
 योऽव्यभिचारेण [(यः) + (अव्यभिचारेण)] यः (यत्) 1/1 सवि.
 अव्यभिचारेण (अव्यभिचार) 3/1. भक्तियोगेन [(भक्ति)-(योग)
 3/1] सेवते (सेव्) व 3/1 सक स गुणान्समतीत्यैतान्ब्रह्मभूयाय
 [(सः) + (गुणान्) + (समतीत्य) + (एतान्) + (ब्रह्मभूयाय)] सः
 (तत्) 1/1 सवि. गुणान् (गुण) 2/3. समतीत्य (सम्-अति-इ→
 सम्-अति-इत्य→समतीत्य) पूकृ. एतान् (एतत्) 2/3 सवि. ब्रह्मभूयाय
 (ब्रह्मभूय) 4/1. कल्पते¹ (क्लृप्) व 3/1 अक.

159. यतन्तो योगिनश्चैनं पश्यन्त्यात्मन्यवस्थितम् [(यतन्तः) + (योगिनः) +
 (च) + (एनम्) + (पश्यन्ति) + (आत्मनि) + (अवस्थितम्)]
 यतन्तः (यत्→यतत्) वकृ 1/3. योगिनः (योगिन्) 1/3. च (अ) =
 ही. एनम् (एन) 2/1 सवि. पश्यन्ति (इष्) व 3/3 सक.
 आत्मनि (आत्मन्) 7/1. अवस्थितम् (अव-स्था→अव-स्थित→
 अवस्थित) भूकृ 2/1. यतन्तोऽप्यकृतात्मानो नैनः पश्यन्त्यचेतसः
 [(यतन्तः) + (अपि) + (अकृतात्मानः) + (न) + (एनम्) + (पश्यन्ति)]

1, संप्रदान के साथ इसका अर्थ होता है : 'योग्य होना' ।

+ (अचेतसः)] यतन्तः (यत् → यतत्) वक् 1/3. अपि (अ) = भी.
 अकृतात्मानः (अ-कृतात्मन्) 1/3 वि. न (अ) = नहीं. एनम् (एन)
 2/1 सवि. पश्यन्ति (इश्) व 3/3 सक. अचेतसः (अचेतस्) 1/3 वि.

160. अभयं सत्त्वसंशुद्धिज्ञानयोगव्यवस्थितिः [(अभयम्) + (सत्त्वसंशुद्धिः) +
 (ज्ञानयोगव्यवस्थितिः)] अभयम् (अभय) 1/1. सत्त्वसंशुद्धिः (सत्त्व-
 संशुद्धि) 1/1. ज्ञानयोगव्यवस्थितिः [(ज्ञान) — (योग) — (व्यवस्थिति)
 1/1] दानं दमश्च [(दानम्) + (दमः) + (च)] दानम् (दान)
 1/1. दमः (दम) 1/1. च (अ) = और. यज्ञश्च [(यज्ञः) + (च)]
 यज्ञः (यज्ञ) 1/1. च (अ) = और. स्वाध्यायस्तप आर्जवम् [(स्वाध्यायः)
 + (तपः) + (आर्जवम्)] स्वाध्यायः (स्वाध्याय) 1/1. तपः (तपस्)
 1/1. आर्जवम् (आर्जव) 1/1.

161. अहिंसा (अहिंसा) 1/1 सत्यमक्रोधस्त्यागः [(सत्यम्) + (अक्रोधः) +
 (त्यागः)] सत्यम् (सत्य) 1/1. अक्रोधः (अक्रोध) 1/1. त्यागः (त्याग)
 1/1. शान्तिरपैशुनम् [(शान्तिः) + (अपैशुनम्)] शान्तिः (शान्ति)
 1/1. अपैशुनम् (अपैशुन) 1/1. दया (दया) 1/1 भूतेष्वलोलुप्त्वं
 मार्दवं ह्रीरचापलम् [(भूतेषु) + (अलोलुप्त्वम्) + (मार्दवम्) + (ह्रीः)
 + (अचापलम्)] भूतेषु (भूत) 7/3. अलोलुप्त्वम् (अलोलुप्त्व) 1/1.
 मार्दवम् (मार्दव) 1/1. ह्रीः (ह्री) 1/1. अचापलम् (अचापल) 1/1.

62. तेजः (तेजस्) 1/1 क्षमा (क्षमा) 1/1. धृतिः (धृति) 1/1
 शौचमद्रोहो नातिमानिता [(शौचम्) + (अद्रोहः) + (न) + (अतिमा-
 निता)] शौचम् (शौच) 1/1. अद्रोहः (अद्रोह) 1/1. न (अ) = नहीं.
 अतिमानिता (अतिमानिता) 1/1 भवन्ति (भू) व 3/3 अक. संपदं
 देवीमभिजातस्य [(संपदम्) + (देवीम्) + (अभिजातस्य)] संपदम्

(संपद्) 2/1. दैवीम् (दैवी) 2/1 वि. अभिजातस्य (अभि-जन्¹→
अभिजात) भूकृ 6/1. भारत (भारत) 8/1.

163. दम्भो दर्पोऽतिमानश्च [(दम्भः) + (दर्पः) + (अतिमानः) + (च)]
दम्भः (दम्भ) 1/1. दर्पः (दर्प) 1/1. अतिमानः (अतिमान) 1/1.
च (अ) = और. क्रोधः (क्रोध) 1/1 पारुष्यमेव च [(पारुष्यम्) +
(एव च)] पारुष्यम् (पारुष्य) 1/1. एष च (अ) = और. अज्ञानं
चाभिजातस्यः [(अज्ञानम्) + (च) + (अभिजातस्य)] अज्ञानम् (अज्ञान)
1/1. च (अ) = तथा. अभिजातस्य (अभि-जन्²→ अभिजात) भूकृ
6/1. पार्थं (पार्थ) 8/1. संपदमासुरीम् [(संपदम्) + (आसुरीम्)]
संपदम् (संपद्) 2/1. आसुरीम् (आसुरी) 2/1 वि.

164. देवी (दैवी) 1/1 वि संपद्धिमोक्षाय [(संपद्) + (विमोक्षाय)] संपद्
(संपद्) 1/1. विमोक्षाय (विमोक्ष) 4/1. निबन्धायआसुरी [(निबन्धाय)
+ (आसुरी)] निबन्धाय (निबन्ध) 4/1. आसुरी (आसुरी) 1/1 वि.

स्त्री

मता (मन्→मत→मता) भूकृ 1/1. मा (अ) = मत (अ) शुचः
(शुच³) भू 2/1 अक संपदं दैवीमभिजातोऽसि [(संपदम्) + (दैवीम्)
+ (अभिजातः) + (असि)] संपदम् (संपद्) 2/1. दैवीम् (दैवी)
2/1 वि. अभिजातः (अभि-जन्→अभिजात) भूकृ 1/1. असि (अस्)
व 3/1 अक. पाण्डव (पाण्डव) 8/1

1. अकर्मक वातुर्ण उपसर्ग लगने से प्रायः अर्थानुसार सकर्मक हो जाती हैं और उनके साथ कर्म का प्रयोग होता है।
2. देखें श्लोक 162.
3. 'मा लुक् (सामान्य भूत) लकार की क्रिया के साथ प्रयुक्त होता है, तब प्रागम अ का लोप हो जाता है, किन्तु अर्थ विधि का होता है।

165. प्रवृत्ति च [(प्रवृत्तिम्) + (च)] प्रवृत्तिम् (प्रवृत्ति) 2/1. च (अ) = तथा निवृत्ति च [(निवृत्तिम्) + (च)] निवृत्तिम् (निवृत्ति) 2/1. च (अ) = तथा जना न [(जनाः) + (न)] जनाः (जन) 1/3. न (अ) = नहीं. विदुरासुराः [(विदुः) + (आसुराः)] विदुः (विद) भू 3/3 सक. आसुराः (आसुर) 1/3 वि. न (अ) = नहीं. शौचं नापि [(शौचम्) + (न) + अपि] शौचम् (शौच) 1/1. न (अ) = नहीं. अपि (अ) = ही. चाचारो न [(च) + (आचारः) + (न)] च (अ) = और. आचारः (आचार) 1/1. न (अ) = नहीं. सत्यं तेषु [(सत्यम्) + (तेषु)] सत्यम् (सत्य) 1/1. तेषु (तत्) 7/3 स. विद्यते (विद) व 3/1 अक.

166. काममाश्रित्य [(कामम्) + (आश्रित्य)] कामम् (काम) 2/1. आश्रित्य (आ-श्रि → आश्रित्य) पूकृ. दुष्पूरं दम्भमानमदान्विता [(दुष्पूरम्) + (दम्भ) + (मान) + (मद) + (अन्विताः)] दुष्पूरम् (दुष्पूर) 2/1 वि. [(दम्भ) — (मान) — (मद) — (अन्वित) 1/3 वि]. मोहाद्गुहोत्वासद्प्राहान्प्रवर्तन्तेऽशुचिब्रताः [(मोहात्) + (गृहीत्वा) + (असत्) + (आहान्) + (प्रवर्तन्ते) + (अशुचिब्रताः)] मोहात् (क्रिविअ) = प्रज्ञान से. गृहीत्वा (ग्रह → गृहीत्वा) पूकृ. [(असत्) — (प्राह) 2/3]. प्रवर्तन्ते (प्र-वृत्) व 3/3 सक. अशुचिब्रताः [[(अशुचि) वि- (ब्रत) 1/3] वि].

167. चिन्तामपरिमेयां च [(चिन्ताम्) + (अपरिमेयाम्) + (च)] चिन्ताम् स्त्री (चिन्ता) 2/1. अपरिमेयाम् (अ-परिमेय → अपरिमेया) 2/1 वि. च (अ) = तथा. प्रलयान्तामुपाश्रिताः [(प्रलयान्ताम्) + (उपाश्रिताः)] प्रलयान्ताम् (क्रिविअ) = मृत्यु तक. उपाश्रिताः (उपा-श्रि → उपाश्रित) भूकृ 1/3. कामोपभोगपरमा एतावदिति [(कामोपभोगपरमाः) +

(एतावत्) + (इति)] कामोपभोगपरमाः [काम) + (उपभोग) + (परमाः)] [(काम) — (उपभोग) — (परमा) 1/3 वि] एतावत् (अ) = इतने. इति (अ) = इस तरह निश्चिताः (निश्चित) 1/3 वि.

168. आशापाशाशतैर्बद्धाः [(आशा) + (पाश) + (शतैः) + (बद्धाः)] [(आशा) — (पाश) — (शत) 3/3] बद्धाः (बन्ध् → बद्ध) भूकृ 1/3. कामक्रोधपरायणाः [(काम) — (क्रोध) — (परायणश्च) 1/3 वि] ईहन्ते (ईह्) व 3/3 सक कामभोगार्थमन्यायेनार्थसञ्चयान् [(काम) + (भोग) + (अर्थम्) + (अन्यायेन) + (अर्थ) + (सञ्चयान्)] [(काम) — (भोग) — (अर्थम्) चतुर्थी बोधक अभ्यय]. अन्यायेन (अन्याय) 3/1. [(अर्थ) — (सञ्चय) 2/3]

169. इदमद्य [(इदम्) + (अद्य)] इदम् (इदम्) 1/1 सवि. अद्य (अ) = आज. मया (अस्मद्) 3/1 स. लब्धमिदं प्राप्स्ये [(लब्धम्) + (इदम्) + (प्राप्स्ये)] लब्धम् (लभ् → लब्ध) भूकृ 1/1. इदम्³ (अ) = यहाँ. प्राप्स्ये (प्र-आप्) भवि 1/1 सक. मनोरथम् (मनोरथ) 2/1. इदमस्तीदमपि [(इदम्) + (अस्ति) + (इदम्) + (अपि)] इदम् (इदम्) 1/1 सवि. अस्ति (अस्) व 1/1 अक. इदम्³ (अ) = इसी प्रकार अपि (अ) = भी. मे (अस्मद्) 4/1 स भविष्यति (भू) भवि 3/1 अक पुनर्धनम् [(पुनर्) + (धनम्) पुनर् (अ) = दुबारा. धनम् (धन) 1/1.

1. समास के अन्त में अर्थ होता है 'पूर्णतः संलग्न'
2. पराकण (वि) : समास के अन्त में अर्थ होता है, बन्धीभूत आदि (आप्टे, संस्कृत-हिन्दी कोश)
3. इदम् (अ) = here (यहाँ), In this manner (इसी प्रकार) आदि (M. Williams, Sans-Eng. Dictionary)

170. अनेकचित्तविभ्रान्ता मोहजालसमावृताः [(अनेकचित्तविभ्रान्ताः) + (मोहजालसमावृताः)] अनेकचित्तविभ्रान्ता. [(अनेक) वि-(चित्त)-(वि-भ्रम्→विभ्रान्त) मूक 1/3]. मोहजालसमावृताः [(मोह)-(जाल)-(सम्-आ-वृ→समावृत) मूक 1/3] प्रसक्ताः (प्र-सञ्ज्→प्रसक्त) मूक 1/3. कामभोगेषु [(काम)-(भोग) 7/3] पतन्ति(पत्) व 3/3 अक. नरकेऽशुचौ [(नरके) + (अशुचौ)] नरके (नरक) 7/1. अशुचौ (अशुचि) 7/1 वि.

-:०:-

गीता-चयनिका एवं गीता¹

श्लोक-क्रम

चयनिका क्रम	गीता क्रम	चयनिका क्रम	गीता क्रम	चयनिका क्रम	गीता क्रम
अध्याय 2 (पर्व 24)		14	55	27	17
		15	56	28	18
1	13	16	57	29	19
2	20	17	58	30	20
3	22	18	59	31	21
4	23	19	61	32	22
5	39	20	62	33	23
6	40	21	63	34	25
7	41	22	69	35	26
8	44	23	71	36	27
9	47	अध्याय 3 (पर्व 25)		37	28
10	48			38	29
11	50	24	3	39	42
12	51	25	5	अध्याय 4 (पर्व 26)	
13	54	26	7	40	16

¹ भीष्मपर्व (महाभारत की छठी पुस्तक) के
अन्तर्गत भगवद्गीतापर्व, सम्पादक, श्री एस. के. बेलवेलकर
(मण्डारकर प्राच्य शोध संस्थान, पूना, 1947)

चयनिका क्रम	गीता क्रम	चयनिका क्रम	गीता क्रम	चयनिका क्रम	गीता क्रम
		60	19	80	21
41	17	61	20	81	22
42	18	62	21	82	23
43	19	63	24	83	24
44	20	64	25	84	25
45	21	अध्याय 6 (पर्व 28)		85	26
46	22	65	2	86	28
47	37	66	4	87	29
48	38	67	5	88	31
49	39	68	6	89	32
50	40	69	7	90	35
51	41	70	8	91	36
अध्याय 5 (पर्व 27)		71	9	अध्याय 7 (पर्व 29)	
52	2	72	10	92	3
53	4	73	13	93	13
54	5	74	14	94	14
55	10	75	16	95	15
56	12	76	17	96	16
57	13	77	18	97	17
58	16	78	19	98	19
59	17	79	20	99	28

चयनिका क्रम	गीता क्रम	चयनिका क्रम	गीता क्रम	चयनिका क्रम	गीता क्रम
100	29	119	34	137	14
अध्याय 8 (पर्व 30)		अध्याय 10 (पर्व 32)		138	15
101	5	120	20	139	16
102	6	अध्याय 11 (पर्व 33)		140	17
103	8	121	4	141	18
104	10	122	8	142	19
105	12	123	12	अध्याय 13 (पर्व 35)	
106	13	124	18	143	7
107	15	125	54	144	8
108	22	126	55	145	9
अध्याय 9 (पर्व 31)		अध्याय 12 (पर्व 34)		146	10
109	3	127	1	147	11
110	14	128	2	148	24
111	15	129	3	149	25
112	22	130	4	अध्याय 14 (पर्व 36)	
113	26	131	5	150	5
114	27	132	8	151	11
115	28	133	9	152	12
116	29	134	10	153	13
117	30	135	11	154	19
118	31	136	13	155	20

चयनिका क्रम	गीता क्रम	चयनिका क्रम	गीता क्रम	चयनिका क्रम	गीता क्रम
156	24	अध्याय 16 (पर्व 38)		165	7
157	25	160	1	166	10
158	26	161	2	167	11
अध्याय 15 (पर्व 37)		162	3	168	12
159	11	163	4	169	13
		164	5	170	16

□ □ □



ISBN No. 978-81-89698-41-6